समर्पण

परम श्रद्धेय

आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

के

नैतिक उन्नयन एव आध्यात्मिक जागरण

मे निरत

साधनाशील महिमामय व्यक्तित्व

को

जो मेरे जीवन-निर्माण मे

प्रेरक बना।

अनुक्रम

□□

प्रकाशकीय

महान् क्रियोद्धारक स्वर्गीय पूज्य आचार्य श्री रत्नचन्द्रजी म सा की स्वर्गवास शताब्दी (स २००२) के पुनीत प्रसग पर परम श्रद्धेय आचार्य श्री हस्तीमलजी म सा के सदुपदेशो से प्रेरित-प्रभावित होकर सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल की स्थापना की गई। मण्डल द्वारा सम्यग्ज्ञान के प्रचार-प्रसार की विविध प्रवृत्तियाँ सचालित की जा रही है जिनमे मुख्य हैं—'जिनवाणी' मासिक पत्रिका का नियमित प्रकाशन, सामायिक व स्वाध्याय सघ का सचालन तथा जीवनोन्नायक सत् साहित्य का निर्माण एव प्रकाशन।

अव तक सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल द्वारा आगमिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, तात्त्विक, कथात्मक, स्तवनात्मक, प्रवचनात्मक, व्याख्यात्मक आदि विविध विषयक धर्म, दर्शन, इतिहास व साहित्य मम्वन्धी ५० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है। ये पुस्तके सत-सतियो, विद्वानो, स्वाध्यायियो से लेकर सामान्य स्तर के सभी पाठको के लिए पठनीय, मननीय, चिन्तनीय और उपादेय रही हैं। कई पुस्तकें पुनर्मुद्रित भी करायी गई हैं। उच्चकोटि के सत् साहित्य के निर्माण एव प्रकाशन की व्यापक योजना भी तैयार की जा रही है ताकि जीवन और समाज की साहित्य सम्बन्धी वढती हुई माग पूरी की जा सके।

इसी योजना के अन्तर्गत जैन दर्शन और साहित्य के प्रमुख विद्वान एव समीक्षक तथा **'जिनवाणी'** के सम्पादक डॉ नरेन्द्र भानावत की प्रस्तुत पुस्तक **'जैन दर्शन : आधुनिक दृष्टि'** का प्रकाशन किया गया है।

डॉ भानावत विगत कई वर्षों से **'जिनवाणी'** का सम्पादन कर रहे है और मण्डल की विविध साहित्यिक एव आध्यात्मिक प्रवृत्तियो मे उनका सतत मार्गदर्शन मिलता रहा है। उनके कुशल सम्पादन मे **'जिनवाणी'** के स्वाध्याय, सामायिक, तप, साधना, श्रावक धर्म, ध्यान, जैन सस्कृति और राजस्थान आदि विशेषाक प्रकाशित हुए हैं जो बौद्धिक

एव आध्यात्मिक जगत् मे विशेष चर्चित रहे हैं। आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार शोध प्रतिष्ठान, जयपुर के मानद निदेशक के रूप मे आपने हस्तलिखित ग्रथो का दोहन कर जैन साहित्य की अज्ञात सम्पदा को उजागर करने व शोध की नयी दिशाएँ उद्घाटित करने मे अपना महत्त्व-पूर्ण योगदान दिया है। अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् के महामत्री के रूप मे देश के विभिन्न क्षेत्रो मे विविध विषयों पर सगोष्ठियो का सयोजन-निर्देशन कर समाज मे एक नयी बौद्धिक चेतना की लहर प्रवाहित की है। आपका अध्ययन व्यापक, चिन्तन गहन और अभिव्यक्ति स्पष्ट व प्रभावशील है।

प्रस्तुत पुस्तक मे डॉ भानावत के १२ निबन्ध सकलित हैं जो विविध विषयो पर समय-समय पर आयोजित अखिल भारतीय स्तर की सगोष्ठियो मे प्रस्तुत किये गये हैं। इन निवन्धो मे डॉ भानावत ने जैन-दर्शन मे निहित क्राति-चेतना, स्वतत्रता, समानता, लोककल्याण, सास्कृतिक समन्वय और भावनात्मक एकता, आत्म-विजय, विश्व मैत्री भाव, चित्त शुद्धि, धर्म-जागरणा, ध्यान योग जैसे तत्त्वो की आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ मे व्यक्ति और समाज के धरातल पर व्यापक दृष्टिकोण से विवेचना-विवृति की है। आपकी भाषा प्राजल और परिष्कृत है तथा भावाभिव्यक्ति मे गाभीर्य होते हुए भी अपने ढग का सारल्य है जो कथ्य को बोझिल व दुरुह नही बनाता।

डॉ भानावत ने अपने निबन्धो मे यथा प्रसग आगमिक उद्धरणो का भी उपयोग किया है। उनके विवेचन-विश्लेषण मे उनकी अपनी दृष्टि रही है। यह आवश्यक नही कि सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल की लेखक के विचारो से सहमति हो ही।

डॉ भानावत ने अपने निवन्धो को पुस्तक रूप मे प्रकाशित करने की मण्डल को अनुमति प्रदान की, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

आशा है, यह पुस्तक जैनदर्शन को आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे समझने-परखने मे विशेष सहायक बनेगी। इसी भावना के साथ।

उमरावमल ढड्ढा
अध्यक्ष

टीकमचन्द हीरावत
मत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

अपनी बात

जैनदर्शन विश्व के प्राचीनतम दर्शनो मे से है। अन्य कई दर्शन-काल-प्रवाह मे विलीन हो गये, पर जैनदर्शन की अविच्छिन्न धारा आज भी प्रवहमान है और उसमे निहित जीवन मूल्यो के साधक चतुर्विध सघ—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के रूप मे विद्यमान हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जैनदर्शन मे ऐसे तत्त्व हैं जिनकी प्रासगिकता ज्ञान-विज्ञान के इस विकसित युग मे भी बराबर बनी हुई है।

आधुनिक जीवन और सभ्यता का जिस तौर-तरीके से विकास हुआ है, उसने धर्म के साथ जुडे हुए प्रतिगामी मूल्यो को झकझोर दिया है। उससे यह समझा जाने लगा है कि धर्म अतीत जीवन का व्याख्यान और भविष्य की स्वप्नदर्शी कल्पना मात्र है, वर्तमान जीवन के साथ उसका सीधा सरोकार नही है और ज्ञान-विज्ञान के स्तर पर जो आधुनिक दृष्टि विकसित हुई है, धर्म के साथ उसका तालमेल नही है, पर ऐसी सोच और समझ भ्रामक है। इस भ्रम के निवारण के लिये आधुनिकता और धर्म के स्वरूप को सही परिप्रेक्ष्य मे समझना आवश्यक है।

आधुनिकता को दो रूपो मे समझा जा सकता है। एक तो समय सापेक्ष प्रक्रिया के रूप मे और दूसरा विभिन्न प्रभावो से उत्पन्न चेतना के रूप मे। पहले रूप मे आधुनिकता कालवाची है जो परिवर्तन और विकास की सरणियो को पार कर काल-प्रवाह के साथ आगे बढती है। इस स्थिति मे हर अगला क्षण अपने पूर्ववर्ती क्षण की अपेक्षा आधुनिक होगा और इस प्रक्रिया मे परम्परा आधुनिकता से जुडी रहेगी, उससे कटकर एकदम अलग नही होगी। दूसरे रूप मे आधुनिकता भाववाची है, विभिन्न प्रभावो से उत्पन्न चेतना रूप है। इसका सम्बन्ध मूल्यवत्ता से है। आधुनिक काल-खण्ड मे रहते हुए भी कई बार व्यक्ति इस मूल्यपरक चेतना को ग्रहण नही कर पाता। जैनदर्शन मे यह चेतना समानता,

स्वतन्त्रता, श्रमनिष्ठा, इन्द्रिय जय, आत्म संयम, आन्तरिक वीतरागता, लोककल्याण, वैचारिक औदार्य, विश्वमैत्री, स्वावलम्बन, आत्म जागृति, कर्त्तव्य परायणता, आत्मानुशासन, अनासक्ति जैसे मूल्यो से जुडी हुई है यही मूल्यवत्ता जैनदर्शन की आधुनिक दृष्टिवत्ता है।

आधुनिकता के उपर्युक्त सन्दर्भ मे धर्म मत या सम्प्रदाय वनकर नही रहता। वह आत्मजयता या आत्म स्वभाव का पर्याय वन जाता है। सभ्यता का विकास इन्द्रिय-सुख और विषय-सेवन की ओर अधिकाधिक होने से आत्मा अपने स्वभाव मे स्थित न रहकर विभावाभिमुख होती जा रही है। फलस्वरूप आज ससार मे चहुँ ओर हिंसा, तनाव और विषमता का वातावरण वना हुआ है।

विषमता से समता, दु:ख से सुख और अशान्ति से शान्ति की ओर वढने का रास्ता धर्ममूलक ही हो सकता है। पर आज का सवसे वडा सकट यही है कि व्यक्ति धर्म को अपना मूल स्वभाव न मानकर, उसे मुखौटा मानने लगा है। धर्म मुखौटा तव वनता है जव वह आचरण में प्रतिफलित नही होता। कथनी और करनी का वढता हुआ अन्तर व्यक्ति को अन्दर ही अन्दर खोखला बनाता रहता है। जव धर्म का यह रूप अधिक उग्र और लोगो की सामान्य अनुभूति का विपय वन जाता है तव धर्म के प्रति अरुचि हो जाती है। लोग उसे अफीमी नशा और न जाने क्या-क्या कहने लग जाते हैं। यह सही है कि इस धर्मोन्माद मे वडे-वडे अत्याचार हुए हैं। विधर्मियो को झूठा ही नही ठहराया गया वल्कि उन्हे प्राणान्तक यातनाएँ भी दी गई।

जहाँ धर्म के नाम पर ऐसे अत्याचार होते हो, धर्म के नाम पर सामाजिक ऊँच-नीच के विभिन्न स्तर कायम किये जाते हो, धर्म के नाम पर भगवान् के प्रागण मे जाने न जाने की, उन्हे छूने न छूने की प्ररूपणा की जाती हो, वह धर्म निश्चय ही एक प्रकार की अफीम है। उसके सेवन से नशा ही आता है। आत्म-दशा की कोई पहचान नही होती। धर्म के नाम पर पनपने वाली इस विकृति को देखकर ही मार्क्स ने धर्म को अफीम कहा।

पर सच्चा धर्म नशा नही है। वह तो नशे को दूर कर आत्म-दशा को शुद्ध और निर्मल वनाने वाला है, सुपुप्त चेतना को जागृत करने वाला है, ज्ञान और आचरण के द्वैत को मिटाने वाला है।

धर्म के दो आधार हैं—(१) चिरन्तन और (२) सामयिक। दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। चिरन्तन आधार आत्म-गुणो से सम्बन्धित है और सामयिक आधार समसामयिक परिस्थितियो का परिणाम है। देश और काल के अनुसार यह परिवर्तित होता रहता है। ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म, सघ धर्म, सामयिक आधार पर अपना रूप खडा करते है और चिरन्तन आधार से प्रेरणा व शक्ति लेकर जीवन तथा समाज को सन्तुलित–सयमित करते हैं। दोनो आधारो से धर्म चक्र प्रवर्तन होता है। जैन दर्शन इन दोनो आधारो को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार यथायोग्य स्थान और महत्त्व देता है।

व्यक्ति अनन्त शक्ति और निस्सीम क्षमताओ का धनी है। धर्म की सम्यक् आराधना उसकी शक्ति और क्षमता को शतोमुखी बनाती है जबकि धर्म की विराधना उसे पतित करती है।

ससार मे चार बातें अत्यन्त दुर्लभ कही गई हैं—मनुष्य जन्म, शास्त्र-श्रवण, श्रद्धा और सयम मे पराक्रम। आज मनुष्य जनसख्या के रूप मे तीव्रगति से बढते जा रहे है पर मनुष्यता घटती जा रही है। मनुष्य जन्म पाकर भी लोग सत्सग और विवेक के अभाव मे हीरे से अनमोल जीवन को कौडी की भाँति नष्ट किये जा रहे हैं। यही कारण है कि जीवन और समाज मे नैतिक ह्रास और सास्कृतिक प्रदूषण बढता जा रहा है। इसे रोकने का उपाय है—सम्यक् जीवन दृष्टि का विकास और विवेक पूर्वक धर्म-आचरण, कर्त्तव्य पालन।

किसी को यह भ्रम नही होना चाहिए कि आधुनिकता और वैज्ञानिक युग धर्म के लिये अनुकूल नही है या वे धर्म के विरोधी है। सच तो यह है कि आधुनिकता ही धर्म की कसौटी है। धर्म अन्धविश्वास या अवसरवादिता नही है। कई लोकसम्मत जीवन आदर्श मिलकर ही धर्म का रूप खडा करते हैं। उसमे जो अवाछनीय रूढि तत्त्व प्रवेश कर जाते हैं, आधुनिकता उनका विरोध करती है। आधुनिकता का धर्म के केन्द्रीय जीवन-तत्त्वो से कोई विरोध नही है। आज के इस आपाधापी के युग मे सबसे बडी आवश्यकता इस बात की है कि धर्म के केन्द्रीय जीवन तत्त्व यथा इन्द्रिय निग्रह, मैत्री, करुणा, प्रेम, सेवा, सहकार, स्वावलम्बन, तप, सयम, परोपकार आदि सुरक्षित रहे। उन पर अन्धविश्वास, सकीर्णता और रूढियो की जो गर्द छा गई है, उसे हटाने मे हमे किंचित भी सकोच

नही करना चाहिये और न अपने प्रयत्नो मे शिथिलता लानी चाहिये। आधुनिकता के प्रवाह मे धर्म के जो सुदृढ आधार स्तम्भ हैं, वे विचलित हो जायें, यह शुभ लक्षण नही है। आधुनिकता या विज्ञान कोई चरम सत्य नही है। वह तो सत्य को प्राप्त करने की, उसे खोज निकालने की एक प्रत्यक्ष प्रयोग भूमि और परीक्षण प्रक्रिया मात्र है। इस प्रक्रिया के द्वारा हमे अपनी दृष्टि को तटस्थ व पारदर्शी वनाने के लिये सतत सावधान और तत्पर रहना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक मे उपर्युक्त विचार-क्रम मे समय-समय पर लिखे गये मेरे १२ निवन्ध सकलित हैं। इनमे से कुछ निवन्ध भगवान् महावीर के २५००वे परिनिर्वाण महोत्सव पर उदयपुर विश्वविद्यालय, सागर विश्वविद्यालय, नागपुर विश्वविद्यालय व अन्य स्थानो पर आयोजित सगोष्ठियो मे पठित है। समय-समय पर लिखित होने के कारण इन निबन्धो मे कही-कही विचारो की पुनरावृत्ति होना स्वाभाविक है। आशा है, पाठक मेरे विचारो को उदारतापूर्वक ग्रहण करेंगे।

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर के पदाधिकारियो के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ कि उन्होने मेरी इस पुस्तक को प्रकाशित कर मेरे विचारो को पाठकों तक पहुँचाने मे सहयोग प्रदान किया।

—नरेन्द्र भानावत

सी-२३५ ए, तिलकनगर
जयपुर-३०२ ००४
विजयादशमी, १९८४

१

महावीर की क्रान्ति-चेतना

वर्द्धमान महावीर क्रान्तिकारी व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुए। उनमे स्वस्थ समाज-निर्माण और आदर्श व्यक्ति-निर्माण की तडप थी। यद्यपि स्वय उनके लिये समस्त ऐश्वर्य और वैलासिक उपादान प्रस्तुत थे तथापि उनका मन उनमे नही लगा। वे जिस बिन्दु पर व्यक्ति और समाज को ले जाना चाहते थे, उसके अनुकूल परिस्थितियाँ उस समय (ई. पू छठी शती) नही थी। धार्मिक जडता और अन्ध श्रद्धा ने सबको पुरुषार्थ रहित बना रखा था, आर्थिक विषमता अपने पूरे उभार पर थी। जाति-भेद और सामाजिक वैपम्य समाज-देह मे घाव बन चुके थे। गतानुगतिकता का छोर पकड कर ही सभी चले जा रहे थे। इस विषम और चेतना रहित परिवेश मे महावीर का दायित्व महान् था। राजघराने मे जन्म लेकर भी उन्होने अपने समग्र दायित्व को समझा। दूसरो के प्रति सहानुभूति और सदाशयता के भाव उनमे जगे और एक क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व के रूप मे वे सामने आये, जिसने सबको जागृत कर दिया, अपने-अपने कर्तव्यो का भान करा दिया और व्यक्ति तथा समाज को भूलभुलैया से बाहर निकाल कर सही दिशा-निर्देश ही नही दिया वरन् उस रास्ते का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया।

क्रान्ति की पृष्ठभूमि

परिवेश के विभिन्न सूत्रो को वही व्यक्ति पकड सकता है जो सूक्ष्म द्रष्टा हो, जिसकी वृत्ति निर्मल, स्वार्थ रहित और सम्पूर्ण मानवता के हितो की सवाहिका हो। महावीर ने भौतिक ऐश्वर्य की चरम सीमा को स्पर्श किया था, पर एक विचित्र प्रकार की रिक्तता का अनुभव वे बराबर

करते रहे, जिसकी पूर्ति किसी बाह्य साधना से सम्भव न थी। वह आन्तरिक चेतना और मानसिक तटस्थता से ही पाटी जा सकती थी। इसी रिक्तता को पाटने के लिए उन्होने घर-बार छोड दिया, राज-वैभव को लात मार दी और बन गये अटल वैरागी, महान् त्यागी, एकदम अपरिग्रही, निस्पृही।

उनके जीवन दर्शन की यही पृष्ठभूमि उन्हे क्रान्ति की ओर ले गई। उन्होने जीवन के विभिन्न परिपार्श्वों को जड, गतिहीन और निष्क्रिय देखा। वे सबमे चेतनता, गतिशीलता और पुरुषार्थ की भावना भरना चाहते थे। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक क्षेत्र मे उन्होने जो क्रान्ति की, उसका यही दर्शन था।

धार्मिक क्रान्ति

महावीर ने देखा कि धर्म को लोग उपासना की नही, प्रदर्शन की वस्तु समझने लगे है। उसके लिए मन के विकारो और विभावो का त्याग आवश्यक नही रहा, आवश्यक रहा—यज्ञ मे भौतिक सामग्री की आहूति देना, यहा तक कि पशुओ का बलिदान करना। धर्म अपने स्वभाव को भूल कर एकदम क्रियाकाड बन गया था। उसका सामान्यीकृत रूप विकृत होकर विशेषाधिकार के कठघरे मे बन्द हो गया था। ईश्वर की उपासना सभी मुक्त हृदय से नही कर सकते थे। उस पर एक वर्ग का एकाधिपत्य सा हो गया था। उसकी दृष्टि सूक्ष्म से स्थूल और अन्तर से बाह्य हो गई थी। इस विषम स्थिति को चुनौती दिये बिना आगे बढना दुष्कर था। अत भगवान् महावीर ने प्रचलित विकारग्रस्त धर्म और उपासना पद्धति का तीव्र शब्दो मे खण्डन किया और बताया कि ईश्वरत्व को प्राप्त करने के साधनो पर किसी वर्ग विशेप या व्यक्ति विशेष का अधिकार नही है। वह तो स्वय मे स्वतन्त्र, मुक्त, निर्लेप और निर्विकार है। उसे हर व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति, वर्ग, धर्म या लिंग का हो—मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर प्राप्त कर सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह अपने कषायो—क्रोध, मान, माया, लोभ-को त्याग दे।

धर्म के क्षेत्र मे उस समय उच्छृखलता फैल गई थी। हर प्रमुख साधक अपने को तीर्थ कर मान कर चल रहा था। उपासक की स्वतन्त्र

चेतना का कोई महत्त्व नही रह गया था। महावीर ने ईश्वर को इतना व्यापक बना दिया कि कोई भी आत्म-साधक ईश्वर को प्राप्त ही नही करे वरन् स्वयं ही ईश्वर बन जाय। इस भावना ने असहाय, निष्क्रिय जनता के हृदय मे शक्ति, आत्म-विश्वास और आत्म-बल का तेज भरा। वह सारे आवरणो को भेद कर, एकबारगी उठ खडी हुई। अब उसे ईश्वर-प्राप्ति के लिए परमुखापेक्षी बन कर नही रहना पडा। उसे लगा कि साधक भी वही है और साध्य भी वही है। ज्यो-ज्यो साधक तप, सयम और अहिंसा को आत्मसात् करता जायगा त्यो-त्यो वह साध्य के रूप मे परिवर्तित होता जायगा। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र से दलालो और मध्यस्थो को बाहर निकाल कर, महावीर ने सही पुरुषार्थमूलक उपासना पद्धति का सूत्रपात किया जिसका केन्द्र स्वय मनुष्य था।

सामाजिक क्रान्ति

महावीर यह अच्छी तरह जानते थे कि धार्मिक क्रान्ति के फल-स्वरूप जो नयी जीवन-दृष्टि मिलेगी उसका क्रियान्वयन करने के लिए समाज मे प्रचलित रूढ मूल्यो को भी बदलना पडेगा। इसी सन्दर्भ मे महावीर ने सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। महावीर ने देखा कि समाज मे दो वर्ग है—एक कुलीन वर्ग जो कि शोषक है, दूसरा निम्न वर्ग जिसका कि शोषण किया जा रहा है। इसे रोकना होगा। इसके लिए उन्होने अपरिग्रह-दर्शन की विचारधारा रखी, जिसकी भित्ति पर आगे चल कर आर्थिक क्रान्ति हुई। उस समय समाज मे वर्ण-भेद अपने उभार पर था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की जो अवतारणा कभी कर्म के आधार पर सामाजिक सुधार के लिए, श्रम विभाजन को ध्यान मे रखकर की गई थी, वह आते-आते रूढिग्रस्त हो गई और उसका आधार अब जन्म रह गया। जन्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाने लगा। फल यह हुआ कि शूद्रो की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। नारी जाति की भी यही स्थिति थी। शूद्रो की और नारी जाति की इस दयनीय अवस्था के रहते हुए धार्मिक-क्षेत्र मे प्रवर्तित क्रान्ति का कोई महत्त्व नही था। अत. महावीर ने बडी दृढता और निश्चितता के साथ शूद्रो और नारी जाति को अपने धर्म मे दीक्षित किया और यह घोषणा की कि जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि नही होता, कर्म से ही सब होता है। उन्होने चाडाल (हरिकेशी) के लिए, कुम्भकार

सद्दाल पुत्त के लिये, स्त्री (चन्दनबाला) के लिए अध्यात्म साधना का रास्ता खोल दिया।

आदर्श समाज कैसा हो, इस पर भी महावीर की दृष्टि रही। इसीलिए उन्होने व्यक्ति के जीवन मे व्रत-साधना की भूमिका प्रस्तुत की। श्रावक के बारह व्रतो मे समाजवादी समाज-रचना के अनिवाय तत्त्व किसी न किसी रूप मे समाविष्ट हैं। निरपराधो को दण्ड न देना, असत्य न बोलना, चोरी न करना, न चोर को किसी प्रकार की सहायता देना, स्वदार-सतोष के प्रकाश मे काम-भावना पर नियन्त्रण रखना, आवश्यकता से अधिक सग्रह न करना, व्यय-प्रवृत्ति के क्षेत्र की मर्यादा करना, जीवन मे समता, सयम, तप और त्याग वृत्ति को विकसित करना—इस व्रत-साधना का मूल भाव है। कहना न होगा कि इस साधना को अपने जीवन मे उतारने वाले व्यक्ति, जिस समाज के अग होगे, वह समाज कितना आदर्श, प्रगतिशील और चरित्रनिष्ठ होगा। शक्ति और शील का, प्रवृत्ति और निवृत्ति का यह सुन्दर सामजस्य ही समाजवादी, समाज-रचना का मूलाधार होना चाहिये। महावीर की यह सामाजिक क्रान्ति हिंसक न होकर अहिंसक है, सघर्षमूलक न होकर समन्वयमूलक है।

आर्थिक क्रान्ति

महावीर स्वय राजपुरुष थे। धन, सत्ता, सम्पत्ति और भौतिक वैभव को उन्होने प्रत्यक्ष देखा था। फिर भी उनका निश्चित मत था कि सच्चे जीवनानद के लिये आवश्यकता से अधिक सग्रह उचित नही। आवश्यकता से अधिक सग्रह करने पर दो समस्यायें उठ खडी होती हैं। पहली समस्या का सम्बन्ध व्यक्ति से है, दूसरी का समाज से। अनावश्यक सग्रह करने पर व्यक्ति लोभ-वृत्ति की ओर अग्रसर होता है और समाज का शेष अंग उस वस्तु विशेष से वचित रहता है। फलस्वरूप समाज मे दो वर्ग हो जाते हैं—एक सम्पन्न, दूसरा विपन्न और दोनो मे संघर्ष प्रारम्भ होता है। कार्ल मार्क्स ने इसे वर्ग-सघर्ष की सज्ञा दी है, और इसका हल हिंसक क्रान्ति मे ढूढा है। पर महावीर ने इस आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिए अपरिग्रह और परिग्रह की मर्यादा निश्चित करने की विचारधारा रखी। इसका सीधा अर्थ है—ममत्व को कम करना, अनावश्यक सग्रह न करना। अपनी जितनी आवश्यकता हो, उसे पूरा करने की दृष्टि से नीतिपूर्वक आजीविका चलाना। श्रावक के बारह व्रतो मे

इन सवकी भूमिकाएं निहित हैं। मार्क्स की आर्थिक क्रान्ति का मूल आधार भौतिक है, उसमे चेतना को नकारा गया है जबकि महावीर की यह आर्थिक क्रान्ति चेतनामूलक है। इसका केन्द्र-विन्दु कोई जड पदार्थ नही वरन् व्यक्ति स्वय है।

वौद्धिक क्रान्ति

महावीर ने यह अच्छी तरह जान लिया था कि जीवन तत्त्व अपने मे पूर्ण होते हुए भी वह कई अशो की अखण्ड समष्टि है। इसीलिये अशो को समझने के लिए अश का समझना भी जरूरी है। यदि हम अश को नकारते रहे, उसकी उपेक्षा करते रहे तो हम अशी को उसके सर्वांग सम्पूर्ण रूप मे नही समझ सकेगे। सामान्यत. समाज मे जो झगडा या वाद-विवाद होता है, वह दुराग्रह, हठवादिता और एक पक्ष पर अडे रहने के ही कारण होता है। यदि उसके समस्त पहलुओ को अच्छी तरह देख लिया जाय तो कही न कही सत्यांश निकल आयेगा। एक ही वस्तु या विचार को एक तरफ से न देखकर उसे चारो ओर से देख लिया जाय, फिर किसी को एतराज न रहेगा। इस वौद्धिक दृष्टिकोण को ही महावीर ने स्याद्वाद या अनेकात दर्शन कहा। इस भूमिका पर ही आगे चल कर सगुण-निर्गुण के वाद-विवाद को, ज्ञान और भक्ति के झगड़े को सुलझाया गया। आचार मे अहिसा की और विचार मे अनेकात की प्रतिष्ठा कर महावीर ने अपनी क्रान्तिमूलक दृष्टि को व्यापकता दी।

अहिंसक दृष्टि

इन विभिन्न क्रान्तियो के मूल मे महावीर का वीर व्यक्तित्व ही सर्वत्र झाकता है। वे वीर ही नही, महावीर थे। इनकी महावीरता का स्वरूप आत्मगत अधिक था। उसमे दुष्टो से प्रतिकार या प्रतिशोध लेने की भावना नही वरन् दुष्ट के हृदय को परिवर्तित कर उसमे मानवीय सद्गुणो—दया, प्रेम, सहानुभूति, करुणा आदि को प्रस्थापित करने की स्पृहा अधिक है। दृष्टिविष सर्प चण्डकौशिक के विष को अमृत बना देने मे यही मूल वृत्ति रही है। महावीर ने ऐसा नही किया कि चण्डकौशिक को ही नष्ट कर दिया हो। उनकी वीरता मे शत्रु का दमन नही, शत्रु के दुर्भावो का दमन है। वे बुराई का बदला बुराई से नही बल्कि भलाई से देकर बुरे व्यक्ति को ही भला मनुष्य बना देना चाहते हैं। यही अहिंसक दृष्टि महावीर की क्रान्ति की पृष्ठभूमि रही है।

वर्तमान सदर्भ और महावीर

भगवान् महावीर को हुए आज २५०० वर्ष से अधिक हो गये हैं पर अभी भी हम उन जीवन-मूल्यो को आत्मसात् नही कर पाये हैं जिनकी प्रतिष्ठापना के लिए उन्होने अपने समय मे साधनारत सघर्ष किया। सच तो यह है कि महावीर के तत्त्व चिन्तन का महत्त्व उनके अपने समय की अपेक्षा आज वर्तमान सन्दर्भ मे कही अधिक सार्थक और प्रासगिक लगने लगा है। वैज्ञानिक चिन्तन ने यद्यपि धर्म के नाम पर होने वाले बाह्य क्रियाकाण्डो, अत्याचारो और उन्मादकारी प्रवृत्तियो के विरुद्ध जन-मानस को सघर्षशील बना दिया है, उसकी इन्द्रियो के विषय-सेवन के क्षेत्र का विस्तार कर दिया है, औद्योगिकरण के माध्यम से उत्पादन की प्रक्रिया को तेज कर दिया है, राष्ट्रो की दूरी परस्पर कम करदी है, तथापि आज का मानव सुखी और शान्त नही है। उसकी मन की दूरिया बढ गई है। जातिवाद, रगभेद, भुखमरी, गुटपरस्ती जैसे सूक्ष्म सहारी कीटाणुओ से वह ग्रस्त है। वह अपने परिचितो के बीच रहकर भी अपरिचित है, अजनबी है, पराया है। मानसिक कुठाओ, वैयक्तिक पीडाओ और युग की कडवाहट से वह त्रस्त है, सतप्त है। इसका मूल कारण है—आत्मगत मूल्यो के प्रति निष्ठा का अभाव। इस अभाव को वैज्ञानिक प्रगति और आध्यात्मिक स्फुरणा के सामजस्य से ही दूर किया जा सकता है।

आध्यात्मिक स्फुरण की पहली शर्त है—व्यक्ति के स्वतन्त्रचेता अस्तित्व की मान्यता, जिस पर भगवान् महावीर ने सर्वाधिक बल दिया और आज की विचारधारा भी व्यक्ति मे वाछित मूल्यो की प्रतिष्ठा के लिए अनुकूल परिस्थिति निर्माण पर विशेप बल देती है। आज सरकारी और गैर सरकारी स्तर पर मानव-कल्याण के लिए नानाविध सस्थाएँ और एजेन्सिया कार्यरत है। शहरी सम्पत्ति की सीमाबन्दी, भूमि का सीलिंग और आयकर-पद्धति आदि कुछ ऐसे कदम हैं जो आर्थिक विषमता को कम करने मे सहायक सिद्ध हो सकते हैं। धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त भी, मूलत: इस बात पर बल देता है कि अपनी-अपनी भावना के अनुकूल प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी धर्म के अनुपालन की स्वतन्त्रता है। ये परिस्थितिया मानव-इतिहास मे इस रूप मे इतनी सार्वजनीन बनकर पहले कभी नही आई। प्रकारान्तर से भगवान् महावीर का अपरिग्रह व अनेकान्त-सिद्धान्त इस चिन्तन के मूल मे प्रेरक घटक रहा है।

वर्तमान परिस्थितियो ने आध्यात्मिकता के विकास के लिए अच्छा वातावरण तैयार कर दिया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि भगवान् महावीर के तत्त्व-चिन्तन का उपयोग समसामयिक जीवन की समस्याओ के समाधान के लिए भी प्रभावकारी तरीके से किया जाय। वर्तमान परिस्थितिया इतनी जटिल एव भयावह बन गयी हैं कि व्यक्ति अपने आवेगो को रोक नही पाता और वह विवेकहीन होकर आत्मघात कर बैठता है। आत्महत्याओ के आकडे दिल-दहलाने वाले हैं, ऐसी परिस्थितियो से बचाव तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति का दृष्टिकोण आत्मोन्मुखी बने। इसके लिए आवश्यक है कि वह जड तत्त्व से परे चेतन तत्त्व की सत्ता मे विश्वास कर, यह चिन्तन करे कि मैं कौन हू ? कहाँ से आया हू ? किनसे बना हूं, ? मुझे कहाँ जाना है ? यह चिन्तन-क्रम उसके मानसिक तनाव को कम करने के साथ-साथ उसमे आत्म-विश्वास, स्थिरता, धैर्य, एकाग्रता जैसे सद्भावो का विकास करेगा।

२

स्वातन्त्र्य बोध

दार्शनिको, राजनीतिज्ञो और समाजशास्त्रियो मे स्वतन्त्रता का अर्थ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से गृहीत हुआ है। यहाँ दो परिभाषायें देना पर्याप्त है। मोर्टिगर जे० एडलर के अनुसार यदि किसी व्यक्ति मे ऐसी क्षमता अथवा शक्ति है, जिससे वह अपने किये गये कार्य को अपना स्वय का कार्य बना सके तथा जो प्राप्त करे उसे अपनी सम्पत्ति के रूप मे अपना सके तो वह व्यक्ति स्वतन्त्र कहलायेगा।[1] इस परिभाषा मे स्वतन्त्रता के दो आवश्यक घटक बताये गये हैं—कार्य क्षमता और अपेक्षित को उपलब्ध करने की शक्ति।

अस्तित्ववादी विचारक ज्या पाल सार्त्र के शब्दो मे स्वतन्त्रता मूलत मानवीय स्वभाव है और मनुष्य की परिभाषा के रूप मे दूसरो पर आश्रित नही है। किन्तु जैसे ही मैं कार्य में गूथता हू मैं अपनी स्वतन्त्रता को कामना करने के साथ-साथ दूसरो की स्वतन्त्रता का सामना करने के लिये प्रतिश्रुत हूँ।[2] इस परिभाषा के मुख्य विन्दु है—आत्म निर्भरता और दूसरो के अस्तित्व व स्वतन्त्रता की स्वीकृति।

कहना न होगा कि उक्त दोनो परिभाषाओ के आवश्यक तत्त्व जैन दर्शन की स्वतन्त्रता विषयक अवधारणा मे निहित हैं। ये तत्त्व उसी अवस्था मे मान्य हो सकते हैं जब मनुष्य को ही अपने सुख-दुःख का कर्ता अथवा भाग्य का नियता स्वीकार किया जाये और ईश्वर को सृष्टि के कर्ता, भर्ता और हर्ता के रूप मे स्वीकृति न दी जाये। जैन दर्शन मे

---

१ द आइडिया ऑफ फ्रीडम, पृ० ५८६

२ Existentialism, पृ० ५४

ईश्वर को सृष्टिकर्ता और सृष्टि नियामक के रूप मे स्वीकार नही किया गया है। इस दृष्टि से जैन दर्शन का स्वातन्त्र्य-बोध आधुनिक चिन्तना के अधिक निकट है।

जैन मान्यता के अनुसार जगत् मे जड और चेतन दो पदार्थ हैं। सृष्टि का विकास इन्ही पर आधारित है। जड और चेतन मे अनेक कारणो से विविध प्रकार के रूपान्तर होते रहते हैं। इसे पर्याय कहा गया है। पर्याय की दृष्टि से वस्तुओ का उत्पाद और विनाश अवश्य होता है परन्तु इसके लिये देव, ब्रह्म, ईश्वर आदि की कोई आवश्यकता नही होती, अतएव जगत् का न तो कभी सर्जन ही होता है न प्रलय ही। वह अनादि, अनन्त और शाश्वत है। प्राणिशास्त्र के विशेषज्ञ श्री जे बी एस हाल्डेन का मत है कि "मेरे विचार मे जगत् की कोई आदि नही है।" सृष्टि विषयक यह सिद्धान्त अकाट्य है और विज्ञान का चरम विकास भी कभी इसका विरोध नही कर सकता। पर स्मरणीय है कि गुण कभी नष्ट नही होते और न अपने स्वभाव को बदलते हैं। वे पर्यायो के द्वारा अवस्था से अवस्थान्तर होते हुए सदैव स्थिर बने रहते है। इस दृष्टि से जैन दर्शन मे चेतन के साथ-साथ जड पदार्थों की स्वतन्त्रता भी मान्य की गई है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव अथवा आत्मा स्वतन्त्र अस्तित्व वाला द्रव्य है। अपने अस्तित्व के लिए न तो यह किसी दूसरे द्रव्य पर आश्रित है और न इस पर आश्रित कोई अन्य द्रव्य है। इस दृष्टि से जीव को प्रभु कहा गया है जिसका अभिप्राय है जीव स्वय ही अपने उत्थान या पतन का उत्तरदायी है। वही अपना शत्रु है और वही अपना मित्र। बन्धन और मुक्ति उसी के आश्रित है। जैन दर्शन मे जीवो का वर्गीकरण दो दृष्टिकोण से किया गया है—सासारिक और आध्यात्मिक। सासारिक दृष्टिकोण से जीवो का वर्गीकरण इन्द्रियो की अपेक्षा से किया गया है। सबसे निम्न चेतना स्तर पर एक इन्द्रिय जीव है जिसके केवल एक स्पर्शेन्द्रिय ही होती है। वनस्पति वर्ग इसका उदाहरण है। इसमे चेतना सबसे कम विकसित होती है। इससे उच्चतर चेतना के जीवो मे क्रमश रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रियो का विकास होता है। मनुष्य इनमे सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जीव तीन प्रकार के माने गये है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा शरीर को ही आत्मा समझता है और शरीर के नष्ट होने पर अपने को नष्ट हुआ समझता है। वह ऐन्द्रिय सुख को ही सुख मानता है। अन्तरात्मा अपनी आत्मा को अपने शरीर से भिन्न समझता है। उसकी सासारिक पदार्थों मे रुचि नही होती। परमात्मा वह है जिसने समस्त कर्म बन्धनो को नष्ट कर जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए छुटकारा पा लिया है।

सुविधा की दृष्टि से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा से सम्बद्ध स्वातन्त्र्य भाव को हम तीन प्रकार से समझ सकते है—

(१) बहिरात्मा की स्वतन्त्रता एक प्रकार से इच्छा पूर्ति करने की क्षमता धारण करने वाली स्वतन्त्रता है क्योकि यह क्षमता सभी जीवो मे न्यूनाधिक मात्रा मे निहित होती है। भौतिक आकाक्षाओ की पूर्ति सभी जीव करते ही है। यह स्वतन्त्रता राजनैतिक शासन प्रणाली, सामाजिक सगठन और परिस्थितियो के आश्रित होती है। स्वतन्त्रता का यह बोध बहुत ही स्थूल है और देशकालगत नियमो और भावनाओ से बधा रहता है।

(२) अन्तरात्मा की स्वतत्रता एक प्रकार से आत्मपूर्णता की क्षमता धारण करने की स्वतत्रता है। इसे हम आत्मसाक्षात्कार करने की स्वतंत्रता अथवा आदर्श जीवन जीने की स्वतत्रता भी कह सकते है। यह स्वतत्रता अर्जित स्वतत्रता है जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के सम्यक् परिपालन से सम्पादित की जा सकती है। सम्यक् दृष्टिसम्पन्न सद्गृहस्थ अर्थात् व्रती श्रावक, मुनि आदि इस प्रकार की स्वातन्त्र्य भावना के भावक होते है।

(३) परमात्मा की स्वतत्रता जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए मुक्त होकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बल के प्रकटीकरण की स्वतत्रता है। यह स्वतत्रता जीवन का सर्वोच्च मूल्य है जिसे पाकर और कुछ पाना शेष नही रह जाता। तीर्थङ्कर, अर्हत केवली, सिद्ध आदि परमात्मा इस श्रेणी मे आते है।

जैन दर्शन मे परमात्मा की स्वतत्रता ही वास्तविक और पूर्ण स्वतत्रता मानी गई है।

जीव या आत्मा का लक्षण उपयोग अर्थात् चेतना माना गया है। ससारी जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दु ख का अनुभव करता है। जैन दर्शन के अनुसार ससारी जीव जव राग-द्वेष युक्त मन, वचन, काया की प्रवृत्ति करता है तव आत्मा मे एक स्पन्दन होता है उससे वह सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओ को ग्रहण करता है और उनके द्वारा नाना प्रकार के आभ्यतर सस्कारो को उत्पन्न करता है। आत्मा मे चुम्बक की तरह अन्य पुद्गल परमाणुओ को अपनी ओर आकर्षित करने की तथा उन परमाणुओ मे लोहे की तरह आकर्षित होने की शक्ति है। यद्यपि ये पुद्गल परमाणु भौतिक हैं, अजीव हैं तथापि जीव की राग द्वेषात्मक मानसिक, वाचिक एव शारीरिक क्रिया के द्वारा आकृष्ट होकर वे आत्मा के साथ ऐसे घुलमिल जाते हैं जैसे दूध और पानी। अग्नि और लौहपिण्ड की भाति वे परस्पर एकमेक हो जाते हैं। जीव के द्वारा कृत (किया) होने से ये कर्म कहे जाते हैं।

जैन कर्मशास्त्र मे कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ मानी गई हैं। ये प्रकृतिया प्राणी को भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुकूल एव प्रतिकूल फल प्रदान करती है। इन आठ प्रकृतियो के नाम हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाती प्रकृतिया हैं क्योकि इनसे आत्मा के चार मूल गुणो ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य (वल) का घात होता है। इन घाती कर्मों को नष्ट किए विना आत्मा सर्वज्ञ केवल-ज्ञानी नही वन सकती। शेष चार प्रकृतिया अघाती हैं क्योकि ये आत्मा के किसी गुण का घात नही करती। उनका प्रभाव केवल शरीर, इन्द्रिय, आयु आदि पर पडता है। इन सभी कर्मों से मुक्त होना ही वास्तविक व पूर्ण स्वतत्रता है।

आज हम स्वतत्रता का जो अर्थ लेते है वह सामान्यत· राजनैतिक स्वाधीनता से है। यदि व्यक्ति को अपनी शासन-प्रणाली और शासनाधिकारी के चयन का अधिकार है तो वह स्वतत्र माना जाता है, पर जैन दर्शन मे स्वतत्रता का यह स्थूल अर्थ ही नही लिया गया, उसकी स्वतत्रता का अर्थ वहुत सूक्ष्म और गहरा है। समस्त विषय-विकारो से, राग-द्वेष से, कर्म-वन्धन से मुक्त होना ही उसकी दृष्टि मे वास्तविक स्वतत्रता है। भगवान् महावीर ने अन्तर्मुखी होकर लगभग साढे वारह वर्ष की कठोर साधना कर, यह चिन्तन दिया कि व्यक्ति अपने

कर्म और पुरुषार्थ मे स्वतत्र है। उन्होने कहा—यह आत्मा न तो किसी परमात्म शक्ति की कृपा पर निर्भर है और न उससे भिन्न है। जब वह यह महसूस करती है कि मेरा सुख-दु ख किसी के अधीन है किसी की कृपा और क्रोध पर वह अवलम्बित है, तव चाहे वह किसी भी गणराज्य मे, किसी भी स्वाधीन शासन प्रणालो मे विचरण करे, वह परतत्र है।

यह परतत्रता आत्मा से परे किसी अन्य को अपने भाग्य का नियता मान लेने पर वनी रहती है। अत महावीर ने कहा—ईश्वर आत्मा से परे कोई अलग शक्ति नही है। आत्मा जब जागरूक होकर अपने कर्मफल को सर्वथा नष्ट कर देती है, अपने मे निहित अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वल का साक्षात्कार कर लेती है, तव वह स्वय परमात्मा बन जाती है। परमात्म दशा प्राप्त कर लेने पर भी वह किसी परम शक्ति मे मिल नही जाती वरन् अपना स्वतत्र अस्तित्व अलग वनाये रखती है। इस प्रकार अस्तित्व की दृष्टि से जैन दर्शन मे एक परमात्मा के स्थान पर अनेक व अनन्त परमात्मा की मान्यता है पर गुण की दृष्टि से सभी परमात्मा अनन्त चतुष्टय की समान शक्ति से सम्पन्न हैं। उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति में व्यक्ति स्वातन्त्र्य और समूहगत गुणात्मकता का यह सामंजस्य जैन दर्शन की एक विशिष्ट और मौलिक देन है।

परमात्मा वनने की इस प्रक्रिया में उसकी अपनी साधना और उसका पुरुषार्थ ही मूलतः काम आता है। इस प्रकार ईश्वर निर्भरता से मुक्त कर जैन दर्शन ने लोगो को आत्म-निर्भरता की शिक्षा और प्रेरणा दी है।

कुछ लोगो का कहना है कि जैन दर्शन द्वारा प्रस्थापित आत्म-निर्भरता का सिद्धान्त स्वतत्रता का पूरी तरह से अनुभव नही कराता, क्योकि वह एक प्रकार से आत्मा को कर्माधीन बना देता है। पर जैन दर्शन की यह कर्माधीनता भाग्य द्वारा नियन्त्रित न होकर पुरुषार्थ द्वारा सचालित है। महावीर स्पष्ट कहते हैं—हे आत्मन ! तू स्वय ही अपना निग्रह कर। ऐसा करने से तू दुखो से मुक्त हो जायगा।[1] यह सही है

१ पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ,
एव दुक्खा पमोक्खसि— आचाराग ३/३/११६

कि आत्मा अपने कृत कर्मों को भोगने के लिए बाध्य है पर वह उतनी बाध्य नहीं कि उसमे परिवर्तन न ला सके। महावीर की दृष्टि मे आत्मा को कर्म-बंध मे जितनी स्वतंत्रता है, उतनी ही स्वतंत्रता उसे कर्मफल के भोगने की भी है। आत्मा अपने पुरुषार्थ के बल पर कर्मफल मे परिवर्तन ला सकती है। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर के कर्म-परिवर्तन के निम्नलिखित चार सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) उदीरणा : नियत अवधि से पहले कर्म का उदय मे आना।

(२) उद्वर्तन कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति मे अभिवृद्धि होना।

(३) अपवर्तन . कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति मे कमी होना।

(४) संक्रमण · एक कर्म प्रकृति का दूसरी कर्म प्रकृति मे संक्रमण होना।

उक्त सिद्धान्त के आधार पर भगवान् महावीर ने प्रतिपादित किया कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ के बल से बंधे हुए कर्मों की अवधि को घटा-बढा सकता है और कर्मफल की शक्ति को मन्द अथवा तीव्र कर सकता है। इस प्रकार नियत अवधि से पहले कर्म भोगे जा सकते हैं और तीव्र फल वाला कर्म मन्द फल वाले कर्म के रूप मे तथा मन्द फल वाला कर्म तीव्र फल वाले कर्म के रूप मे बदला जा सकता है। यही नहीं, पुण्य कर्म के परमाणु को पाप के रूप मे और पाप कर्म के परमाणु को पुण्य के रूप मे संक्रान्त करने की क्षमता भी मनुष्य के स्वयं के पुरुषार्थ मे है। निष्कर्ष यह है कि महावीर मनुष्य को इस बात की स्वतंत्रता देते हैं कि यदि वह जागरूक है, अपने पुरुषार्थ के प्रति सजग है और विवेक पूर्वक अप्रमत्त भाव से अपने कार्य सम्पादित करता है, तो वह कर्म को अधीनता से मुक्त हो सकता है, परमात्म दशा अर्थात् पूर्ण स्वतंत्रता को प्राप्त कर सकता है।

महावीर ने अपने इस आत्म स्वातंत्र्य को मात्र मनुष्य तक सीमित नहीं रक्खा। उन्होंने प्राणी मात्र को यह स्वतंत्रता प्रदान की। अपने अहिंसा सिद्धान्त के निरूपण मे उन्होंने स्पष्ट कहा कि प्रमत्त योग द्वारा किसी के प्राणों को क्षति पहुंचाना या उस पर प्रतिबंध लगाना हिंसा है। इनमे से यदि किसी एक भी प्राण की स्वतंत्रता मे बाधा पहुंचाई

जाती है तो वह हिंसा है। स्वतत्रता का यह अहिंसक आधार अत्यन्त व्यापक और लोक मागलिक है। जब हम किसी दूसरे के चलने-फिरने पर रोक लगाते हैं तो यह कार्य जीव के शरीरबल प्राण की हिंसा है। जब हम किसी प्राणी के बोलने पर प्रतिबध लगाते है तो यह वचनबल प्राण की और जब हम हम किसी के स्वतत्र चिन्तन पर प्रतिबध लगाते हैं तो यह उसके मनोबल प्राण की हिंसा है। इसी प्रकार किसी के देखने, सुनने आदि पर प्रतिबध लगाना विभिन्न प्राणो की हिंसा है। कहना नही होगा कि भारतीय सविधान मे मूल अधिकारो के अन्तर्गत लिखने, बोलने, गमनागमन करने आदि के जो स्वतत्रता के अधिकार दिये गए हैं, उनके सूत्र भगवान् महावीर के इस स्वातत्र्य बोध से जोडे जा सकते हैं।

भगवान् महावीर ने श्रावक धर्म के सन्दर्भ से जिस व्रत-साधना की व्यवस्था दी है, सामाजिक जीवन पद्धति से उसका गहरा जुडाव है। अहिसा के साथ-साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, इच्छा परिमाण आदि व्रत व्यक्ति को सयमित और अनुशासित बनाने के साथ-साथ दूसरो के अधिकारो की रक्षा और उनके प्रति आदर भाव को बढावा देते है। अचौर्य और इच्छा परिमाण व्रतो की आज के युग मे बडी सार्थकता है। अचौर्य व्रत व्यवहार-शुद्धि पर विशेष बल देता है। इस व्रत मे व्यापार करते समय अच्छी वस्तु दिखा कर घटिया दे देना, किसी प्रकार की मिलावट करना, झूठा नाप तोल तथा राज्य-व्यवस्था के विरुद्ध आचरण करना निषिद्ध है। यहा किसी प्रकार की चोरी करना तो वर्जित है ही, किन्तु चोर को किसी प्रकार की सहायता देना या चुराई गई वस्तु को खरीदना भी वर्जित है। आज की बढती हुई तस्कर वृत्ति, चोर-बाजारी, रिश्वतखोरी, टैक्स चोरी आदि सब महावीर की दृष्टि से व्यक्ति को पाप की ओर ले जाते हैं, उसे मूच्छित और पराधीन बनाते हैं। इन सब की रोक से ही व्यक्ति स्वतत्रता का सही अनुभव कर सकता है।

महावीर की दृष्टि मे राजनैतिक स्वतत्रता ही मुख्य नही है। उन्होने सामाजिक व आर्थिक स्वतत्रता पर भी बल दिया। उन्होने किसी भी स्तर पर सामाजिक विषमता को महत्त्व नही दिया। उनकी दृष्टि मे कोई जन्म से ऊँचा-नीचा नही होता, व्यक्ति को उसके कर्म ही ऊँचा-नीचा बनाते हैं। उन्होने परमात्म-दशा तक पहुचने के लिए सब लोगों

और सब प्रकार के साधनामार्गियो के लिए मुक्ति के द्वार खोल दिए। उन्होने पन्द्रह प्रकार से सिद्ध होना बतलाया—तीर्थ सिद्ध, अतीर्थ सिद्ध, तीर्थङ्कर सिद्ध, अतीर्थङ्कर सिद्ध, स्वयबुद्ध सिद्ध, प्रत्येक बुद्ध सिद्ध, बुद्धबोधित सिद्ध, स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपु सकलिंग सिद्ध, स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध, गृहस्थलिंग सिद्ध, एक सिद्ध, अनेक सिद्ध (पन्नवणा पद १, जीव प्रज्ञापन प्रकरण) परमात्म-सिद्धि के लिये विशेष लिंग, विशेष वेश, विशेष गुरु आदि की व्यवस्था को भगवान् महावीर ने चुनौती दी। उन्होने कहा दूसरे के उपदेश के बिना स्वयमेव बोध प्राप्त कर (स्वयबुद्ध सिद्ध) परमात्मा बना जा सकता है। स्त्री और नपु सक भी (स्त्रीलिग सिद्ध, नपु सक लिंग सिद्ध) सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। लिंग या आकृति की सिद्धि प्राप्ति मे कोई बाधा नही है। गृहस्थ के वेश मे रहा हुआ और महावीर द्वारा दीक्षित न होने वाला अन्य परिव्राजक भी सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उनके धर्म सघ मे कुम्हार, माली, चाण्डाल आदि सभी वर्ग के लोग थे। उन्होने चन्दनबाला साध्वी (स्त्री) को अपने सघ की प्रमुख बनाकर नारी जाति को सामाजिक स्तर पर ही नही आध्यात्मिक साधना के स्तर पर भी पूर्ण स्वतत्रता का भान कराया। यही नही, जैन श्वेताम्बर परम्परा मे सर्व प्रथम मोक्ष जाने वाली भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी (स्त्री) मानी गई है। इससे भी आगे १९वे तीर्थङ्कर मल्लिनाथ स्त्री माने गये है। तीर्थङ्कर विशिष्ट केवलज्ञानी होते है जो न केवल परमात्म दशा प्राप्त करते हैं वरन् लोक कल्याण के लिए साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप तीर्थ की भी स्थापना करते हैं।

गृहस्थो के लिए महावीर ने आवश्यकताओ का निषेध नही किया। उनका बल इस बात पर था कि कोई आवश्यकता से अधिक सचय—सग्रह न करे। क्योकि जहा सग्रह है, आवश्यकता से अधिक है, वहा इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि कही आवश्यकता भी पूरी नही हो रही है। लोग दुःखी और अभावग्रस्त है। अत सब स्वतत्रतापूर्वक जीवनयापन कर सकें इसके लिए इच्छाओ का सयम आवश्यक है। यह सयमन व्यक्ति स्तर पर भी हो, सामाजिक स्तर पर भी हो और राष्ट्र व विश्व स्तर पर भी हो। इसे उन्होने परिग्रह की मर्यादा या इच्छा का

परिमाण कहा। इससे आवश्यक रूप से धन कमाने की प्रवृत्ति पर अकुश लगेगा और राष्ट्रो की आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता रुकेगी । शोपण और उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति पर प्रतिवध लगेगा।

महावीर ने कहा—जैसे सम्पत्ति आदि परिग्रह हैं वैसे ही हठवादिता, विचारो का दुराग्रह आदि भी परिग्रह हैं। इससे व्यक्ति का दिल छोटा और दृष्टि अनुदार वनती है। इस उदारता के अभाव मे न व्यक्ति स्वय स्वतत्रता की अनुभूति कर पाता है और न दूसरो को वह स्वतंत्र वातावरण दे पाता है। अत उन्होने कहा—प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है । उसे अपेक्षा से देखने पर ही, सापेक्ष दृष्टि से ही, उसका सच्चा व समग्र ज्ञान किया जा सकता है । यह सोचकर व्यक्ति को अनाग्रही होना चाहिए । उमे यह सोचना चाहिए कि वह जो कह रहा है वह सत्य है, पर दूसरे जो कहते हैं उसमे भी सत्यांश है । ऐसा समझ कर दृष्टि को निर्मल, विचारो को उदार और दिल को विशाल वनाना चाहिए। हमारे सविधान मे धर्म निरपेक्षता का जो तत्त्व समाविष्ट हुआ है, वह इसी वैचारिक सापेक्ष चिन्तन का परिणाम प्रतीत होता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जैन दर्शन का स्वातत्र्य वोध यद्यपि आत्मवादी चिन्तन पर आधारित है पर वह जीवन के सभी पक्षो—आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि को सतेज और प्रभावी वनाता है।

स्वतत्रता के ३७ वर्षों वाद भी हम विभिन्न स्तरो पर स्वतत्रता की सही अनुभूति नही कर पा रहे है। इसका मूल कारण स्वतत्रता को अधिकार प्राप्ति तक ही सीमित रख कर समझना है । पर वस्तुत· स्वतत्रता मात्र अधिकार नही है। वह एक ऐसा भाव है, जो व्यक्ति को अपने सर्वाङ्गीण विकास के लिए उचित अवसर, साधना और कर्म करने की शक्ति प्रदान करता है । यह भाव अपने कर्तव्य के प्रति सजग और सक्रिय वने रहने से ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु दु.ख इस वात का है कि आज हम अपना कर्तव्य किए बिना ही अधिकार का सुख भोगना चाहते हैं । इसी का परिणाम है–आज का यह सत्रास, यह सकट।

इस सत्रास और सकट से निपटने के लिए हमे बाहर नही, भीतर की ओर देखना होगा । बाहर से हम भले ही स्वतत्र और स्वाधीन लगे पर भीतर से हम छोटे-छोटे स्वार्थों, सकीर्णताओ और अधविश्वासो से जकडे हुए हैं । शरीर से हम स्वतत्र लगते है पर हमारा मन स्वाधीन नही है । जब तक मन स्वाधीन नही होता, व्यक्ति की कर्म शक्ति सही माने मे जागृत नही होती और वह अपने कर्तव्य पथ पर निष्ठा पूर्वक बढ नही पाता । मन को स्वाधीनता के लिए आवश्यक है—विषय-विकारो पर विजय पाना और यह तब तक सम्भव नही जब तक कि व्यक्ति आत्मोन्मुखी न बने ।

आज की हमारी सारी कार्य प्रणाली का केन्द्र कर्तव्य न होकर, अधिकार बना हुआ है, शक्ति का स्रोत सेवा न होकर, सत्ता है । प्रतिष्ठा का आधार गुण न होकर, पैसा और परिग्रह है, जब तक यह व्यवस्था रहेगी तब तक हम स्वतत्रता का सही आस्वादन नही कर सकते । हमे इस व्यवस्था को बदलना होगा और इसके लिए चाहिए, तप, त्याग, बलिदान, कर्तव्य के प्रति अगाध निष्ठा और आत्मोन्मुखी दृष्टि ।

३

जनतांत्रिक सामाजिक चेतना के तत्त्व

जन मान्यता के अनुसार सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था मे वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम तीनो कालो मे जीवन अत्यन्त सरल एव प्राकृतिक था। तथाकथित कल्प वृक्षो से आवश्यकताओ की पूर्ति हो जाया करती थी। यह अकर्म भूमि भोग भूमि का काल था। पर तीसरे काल के अन्तिम पाद मे काल चक्र के प्रभाव से इस अवस्था मे परिवर्तन आया और मनुष्य कर्म भूमि की ओर अग्रसर हुआ। उसमे मानव सम्बन्धपरकता का भाव जगा और पारिवारिक व्यवस्था—कुल व्यवस्था—सामने आई। इसके व्यवस्थापक कुलकर या मनु कहलाये जो विकास क्रम मे चौदह हुए। कुलकर व्यवस्था का विकास आगे चलकर समाज सगठन के रूप मे हुआ और इसके प्रमुख नेता हुए २४ तीर्थङ्कर तथा गौण नेता ३९ अन्य महापुरुष (१२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव) हुए जो सब मिल कर त्रिषष्ठिशलाका पुरुष कहे जाते है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि मे यह कहा जा सकता है कि जैन दृष्टि से धर्म केवल वैयक्तिक आचरण ही नही है, वह सामाजिक आवश्यकता और समाज व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण घटक भी है। जहा वैयक्तिक आचरण को पवित्र और मनुष्य की आतरिक शक्ति को जागृत करने की दृष्टि से क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, सयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य जैसे मनोभावाधारित धर्मो की व्यवस्था है, वहा सामाजिक चेतना को विकसित और सामाजिक सगठन को सुदृढ तथा स्वस्थ बनाने की दृष्टि से ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म, कुल धर्म, गण धर्म, सघ धर्म जैसे समाजोन्मुखी

धर्मों तथा ग्राम स्थविर, नगर स्थविर, राष्ट्र स्थविर, प्रशास्ता स्थविर, कुल स्थविर, गण स्थविर, सघ स्थविर जैसे धर्मनायको की भी व्यवस्था की गई है।[1]

इस विन्दु पर आकर "जन" और "समाज" परस्पर जुडते हैं और धर्म मे निवृत्ति-प्रवृत्ति, त्याग-सेवा और ज्ञान-क्रिया का समावेश होता है।

यद्यपि यह सही है कि धर्म का मूल केन्द्र व्यक्ति होता है क्योकि धर्म आचरण से प्रकट होता है पर उसका प्रभाव समूह या समाज मे प्रतिफलित होता है और इसी परिप्रेक्ष्य मे जनतात्रिक सामाजिक चेतना के तत्त्वो को पहचाना जा सकता है। कुछ लोगो की यह धारणा है कि जनतात्रिक सामाजिक चेतना की अवधारणा पश्चिमी जनतन्त्र—यूनान के प्राचीन नगर राज्य और कालान्तर मे फ्रास की राज्य क्राति की देन है। पर सर्वथा ऐसा मानना ठीक नही। प्राचीन भारतीय राजतत्र व्यवस्था मे आधुनिक इगलैण्ड की भाति सीमित व वैधानिक राजतत्र से युक्त प्रजातत्रात्मक शासन के वीज विद्यमान थे। जन सभाओ और विशिष्ट आध्यात्मिक ऋषियो द्वारा राजतत्र सीमित था। स्वयं भगवान् महावीर लिच्छिवी गणराज्य से सम्बन्धित थे। यह अवश्य है कि पश्चिमी जनतत्र और भारतीय जनतत्र की विकास—प्रक्रिया और उद्देश्यो मे अन्तर रहा है, उसे इस प्रकार समझा जा सकता है :—

१ पश्चिम मे स्थानीय शासन की उत्पत्ति केन्द्रीय शक्ति से हुई है जवकि भारत मे इसकी उत्पत्ति जन समुदाय से हुई है।

२. पाश्चात्य जनतात्रिक राज्य पूजीवाद, उपनिवेशवाद और साम्राज्य-वाद के वल पर फले फूले हैं। वे अपनी स्वतन्त्रता के लिए तो मर मिटते है पर दूसरे देशो को राजनैतिक दासता का शिकार वना कर उन्हे स्वशासन के अधिकार से वचित रखने की साजिश करते हैं। पर भारतीय जनतत्र का रास्ता इससे भिन्न है। उसने आर्थिक शोषण और राजनैतिक प्रभुत्व के उद्देश्य से कभी वाहरी देशो पर आक्रमण नही किया। उसकी नीति शातिपूर्ण सहअस्तित्व और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की रही है।

---

१ स्थानांग सूत्र, दसवा ठाणा।

३. पश्चिमी देशो ने पूंजीवादी और साम्यवादी दोनो प्रकार के जनतत्रो को स्थापित करने मे रक्तपात, हत्याकाण्ड और हिंसक क्रान्ति का सहारा लिया है पर भारतीय जनतन्त्र का विकास लोकशक्ति और सामूहिक चेतना का फल है। अहिंसक प्रतिरोध और सत्याग्रह उसके मूल आधार रहे हैं।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि भारतीय समाज-व्यवस्था मे जनतन्त्र केवल राजनैतिक सन्दर्भ ही नही है। यह एक व्यापक जीवन पद्धति है, एक मानसिक दृष्टिकोण है जिसका सम्बन्ध जीवन के धार्मिक, नैतिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी पक्षो से है। इस धरातल पर जब हम चिन्तन करते हैं तो मुख्यत जैन दर्शन में और अधिकाशत. अन्य भारतीय दर्शनो मे भी जनतात्रिक सामाजिक चेतना के निम्नलिखित मुख्य तत्त्व रेखाकित किये जा सकते हैं :—

१. स्वतन्त्रता
२ समानता
३ लोककल्याण
४ धर्म निरपेक्षता

१. **स्वतन्त्रता :**—स्वतन्त्रता जनतन्त्र की आत्मा है और जैन दर्शन की मूल भीत्ति भी। जैन मान्यता के अनुसार जीव अथवा आत्मा स्वतन्त्र अस्तित्व वाला द्रव्य है। अपने अस्तित्व के लिए न तो यह किसी दूसरे द्रव्य पर आश्रित है और न इस पर आश्रित कोई अन्य द्रव्य है। इस दृष्टि से जीव को प्रभु कहा गया है—जिसका अभिप्राय है जीव स्वयं ही अपने उत्थान या पतन का उत्तरदायी है। सद् प्रवृत्त आत्मा ही उसका मित्र है और दुष्प्रवृत्त आत्मा ही उसका शत्रु है। स्वाधीनता और पराधीनता उसके कर्मो के अधीन है। वह अपनी साधना के द्वारा घाती-अघाती सभी प्रकार के कर्मो को नष्ट कर पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर सकता है। स्वयं परमात्मा बन सकता है। जैन दर्शन मे यही जीव का लक्ष्य माना गया है। यहा स्वतन्त्रता के स्थान पर मुक्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। इस मुक्ति प्राप्ति में जीव की साधना और उसका पुरुषार्थ ही मुख्य साधन है। गुरु आदि से मार्गदर्शन तो मिल सकता है पर उनको पूजने-आराधने से मुक्ति

नही मिल सकती । मुक्ति-प्राप्ति के लिए स्वय के आत्म को ही पुरुषार्थ मे लगाना होगा । इस प्रकार जीव मात्र की गरिमा, महत्ता और इच्छा शक्ति को जैन दर्शन मे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है । इसीलिए यहा मुक्त जीव अर्थात् परमात्मा को गुणात्मक एकता के साथ-साथ मात्रात्मक अनेकता है । क्योकि प्रत्येक जीव ईश्वर के सान्निध्य सामीप्य-लाभ ही प्राप्त करने का अधिकारी नही है बल्कि स्वय परमात्मा बनने के लिए क्षमतावान है । फलत जैन दृष्टि मे आत्मा ही परमात्म दशा प्राप्त करती है, पर कोई परमात्मा आत्मदशा प्राप्त कर पुन अवतरित नही होता । इस प्रकार व्यक्ति के अस्तित्व के धरातल पर जीव को ईश्वराधीनता और कर्माधीनता दोनो से मुक्ति दिलाकर उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता की रक्षा की गयी है ।

जैन दर्शन की स्वतन्त्रता निरकुश या एकाधिकारवादिता की उपज नही है । इसमे दूसरो के अस्तित्व की स्वतन्त्रता की भी पूर्ण रक्षा है । इसी बिन्दु से अहिंसा का सिद्धान्त उभरता है जिसमे जन के प्रति ही नही प्राणी मात्र के प्रति मित्रता और बन्धुत्व का भाव है । यहा जन अर्थात् मनुष्य ही प्राणी नही है और मात्र उसकी हत्या ही हिंसा नही है । जैन शास्त्रो मे प्राण अर्थात् जीवनी शक्ति के दश भेद बताए गए हैं—सुनने की शक्ति, देखने की शक्ति, सू घने की शक्ति, स्वाद लेने की शक्ति, छू ने की शक्ति, विचारने की शक्ति, बोलने की शक्ति, गमनागमन की शक्ति, श्वास लेने व छोडने की शक्ति और जीवित रहने की शक्ति । इनमे से प्रमत्त योग द्वारा किसी प्राण को क्षति पहुचाना, उस पर प्रतिबन्ध लगाना, उसकी स्वतन्त्रता मे बाधा पहु चाना, हिंसा है । जब हम किसी के स्वतन्त्र चिन्तन को बाधित करते हैं, उसके बोलने पर प्रतिबन्ध लगाते है और गमनागमन पर रोक लगाते हैं तो प्रकारान्तर से क्रमश उसके मन, वचन और काया रूप प्राण की हिंसा करते है । इसी प्रकार किसी के देखने, सुनने, सू घने, चखने, छू ने आदि पर प्रतिबन्ध लगाना भी विभिन्न प्राणो की हिंसा है । यह कहने की आवश्यकता नही कि स्वतन्त्रता का यह सूक्ष्म उदात्त चिन्तन हमारे सविधान के स्वतन्त्रता सम्बन्धी मौलिक अधिकारो का उत्स रहा है ।

विचार-जगत मे स्वतन्त्रता का बडा महत्त्व हैं । आत्म-निर्णय और मताधिकार इसी के परिणाम हैं । कई साम्यवादी देशो मे

सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता होते हुए भी इच्छा स्वातन्त्र्य का यह अधिकार नही है। पर जैन दर्शन मे और हमारे संविधान मे भी विचार स्वातन्त्र को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। महावीर ने स्पष्ट कहा कि प्रत्येक जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व है, इसलिए उसकी स्वतत्र विचार-चेतना भी है। अत: जैसा तुम सोचते हो एकमात्र वही सत्य नही है। दूसरे जो सोचते हैं उसमे भी सत्याश निहित है। अतः पूर्ण सत्य का साक्षात्कार करने के लिए इतर लोगो के सोचे हुए, अनुभव किये हुए सत्याशो को भी महत्त्व दो। उन्हे समझो, परखो और उसके आलोक मे अपने सत्य का परीक्षण करो। इससे न केवल तुम्हे उस सत्य का साक्षात्कार होगा वरन् अपनी भूलो के प्रति सुधार करने का तुम्हे अवसर भी मिलेगा। प्रकारान्तर से महावीर का चिन्तन जनतात्रिक शासन-व्यवस्था मे स्वस्थ विरोधी पक्ष की आवश्यकता और महत्ता प्रतिपादित करता है तथा इस वात की प्रेरणा देता है कि किसी भी तथ्य को भली प्रकार समझने के लिए अपने को विरोध पक्ष की स्थिति मे रख कर उस पर चिन्तन करो। तब जो सत्य निखरेगा वह निर्मल, निर्विकार और निष्पक्ष होगा। महावीर का यह वैचारिक औदार्य और सापेक्ष चिन्तन स्वतत्रता का रक्षा कवच है। यह दृष्टिकोण अनेकान्त सिद्धान्त के रूप मे प्रतिपादित है।

२ समानता :—स्वतन्त्रता की अनुभूति वातावरण और अवसर को समानता पर निर्भर है। यदि समाज मे जातिगत वैषम्य और आर्थिक असमानता है तो स्वतन्त्रता के प्रदत्त अधिकारो का भी कोई विशेष उपयोग नही। इसलिए महावीर ने स्वतन्त्रता पर जितना वल दिया उतना ही वल समानता पर दिया। उन्हे जो विरक्ति हुई वह केवल जीवन की नश्वरता या सासारिक असारता को देखकर नही हुई वरन् मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण देख कर वे तिलमिला उठे। और उस शोषण को मिटाने के लिए, जीवन के हर स्तर पर समता स्थापित करने के लिए उन्होने क्राति की, तीर्थप्रवर्तन किया। भक्त और भगवान के वीच पनपे धर्म दलालो को अनावश्यक बताकर भक्त और भगवान के वीच गुणात्मक सम्वन्ध जोड़ा। जन्म के स्थान पर कर्म को प्रतिष्ठित कर गरीवो, दलितो और असहायो को उच्च आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त करने की कला सिखायी। अपने साधना काल मे कठोर अभिग्रह धारण कर दासी वनी, हथकडी और वेड़ियो मे जकडी, तीन दिन से भूखी,

मुण्डितकेश राजकुमारी चन्दना से आहार ग्रहण कर, उच्च क्षत्रिय राजकुल की महारानियो के मुकावले समाज मे निकृष्ट समझी जाने वाली नारी शक्ति की आध्यात्मिक गरिमा और महिमा प्रतिष्ठापित की। जातिवाद और वर्ण-वाद के खिलाफ छेडी गयी यह सामाजिक क्रान्ति भारतीय जनतत्र की सामाजिक समानता का मुख्य आधार वनी है। यह तथ्य पश्चिम के सभ्य कहलाने वाले तथाकथित जनतान्त्रिक देशो की रगभेद नीति के विरुद्ध एक चुनौती है।

महावीर दूरद्रष्टा विचारक और अनन्तज्ञानी साधक थे। उन्होने अनुभव किया कि आर्थिक समानता के बिना सामाजिक समानता अधिक समय तक कायम नही रह सकती और राजनैतिक स्वाधीनता भी आर्थिक स्वाधीनता के अभाव मे कल्याणकारी नही बनती। इसलिए महावीर का सारा वल अपरिग्रह भावना पर रहा। एक ओर उन्होने एक ऐसी साधु सस्था खडी की जिसके पास रहने को अपना कोई आगार नही। कल के खाने की आज कोई निश्चित व्यवस्था नही, सुरक्षा के लिए जिसके पास कोई साधन सग्रह नही, जो अनगार है, भिक्षुक है, पादविहारी है, निर्ग्रन्थ है, श्रमण है, अपनी श्रम साधना पर जीता है और दूसरो के कल्याण के लिए समर्पित है उसका सारा जीवन। जिसे समाज से कुछ लेना नही, देना ही देना है। दूसरी ओर उन्होने उपासक सस्था— श्रावक सस्था खडी की जिसके परिग्रह की मर्यादा है, जो अणुव्रती है।

श्रावक के वारह व्रतो पर जव हम चिन्तन करते हैं तो लगता है कि अहिंसा के समानान्तर ही परिग्रह की मर्यादा और नियमन का विचार चला है। गृहस्थ के लिए महावीर यह नही कहते कि तुम सग्रह न करो। उनका वल इस वात पर है कि आवश्यकता से अधिक सग्रह मत करो। और जो सग्रह करो उस पर स्वामित्व की भावना मत रखो। पाश्चात्य जनतान्त्रिक देशो मे स्वामित्व को नकारा नही गया है। वहा सम्पत्ति को एक स्वामी से छीन कर दूसरे को स्वामी वना देने पर वल है। इस व्यवस्था मे ममता टूटती नही, स्वामित्व वना रहता है और जव तक स्वामित्व का भाव है– सघर्प है, वर्ग भेद है। वर्ग विहीन समाज रचना के लिए स्वामित्व का विसर्जन जरूरी है। महावीर ने इसलिए परिग्रह को सम्पत्ति नही कहा, उसे मूर्च्छा या ममत्व भाव कहा है। साधु तो नितात अपरिग्रही होता ही है, गृहस्थ भी धीरे-धीरे उस ओर वढे, यह अपेक्षा

है । इसीलिए महावीर ने श्रावक के बारह व्रतो मे जो व्यवस्था दी है वह एक प्रकार से स्वैच्छिक स्वामित्व विसर्जन और परिग्रह मर्यादा, सीलिंग की व्यवस्था है । आर्थिक विषमता के उन्मूलन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति के उपार्जन के स्रोत और उपभोग के लक्ष्य मर्यादित और निश्चित हो । बारह व्रतो मे तीसरा अस्तेय व्रत इस बात पर बल देता है कि चोरी करना ही वर्जित नही है बल्कि चोर द्वारा चुराई गई वस्तु को लेना, चोर को प्रेरणा करना, उसे किसी प्रकार की सहायता करना, राज्य नियमो के विरुद्ध प्रवृत्ति करना, झूठा नाप-तोल करना, झूठा दस्तावेज लिखना, झूठी साक्षी देना, वस्तुओ मे मिलावट करना, अच्छी वस्तु दिखाकर घटिया दे देना आदि सब पाप है । आज की बढती हुई चोर-बाजारी, टैक्स चोरो, खाद्य पदार्थों मे मिलावट को प्रवृत्ति आदि सब महावीर की दृष्टि से व्यक्ति को पाप की ओर ले जाते हैं और समाज मे आर्थिक विषमता के कारण बनते है । इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए पाचवे व्रत मे उन्होने खेत, मकान, सोना-चादी आदि जेवरात, धन-धान्य, पशु-पक्षी, जमीन-जायदाद आदि को मर्यादित, आज की शब्दावली में इनका सीलिग करने पर जोर दिया है और इच्छाओ को उत्तरोत्तर नियन्त्रित करने की बात कही है। छठे व्रत मे व्यापार करने के क्षेत्र को सीमित करने का विधान है । क्षेत्र और दिशा का परिमाण करने से न तो तस्कर वृत्ति को पनपने का अवसर मिलता है और न उपनिवेश-वादी वृत्ति को बढावा मिलता है । सातवे व्रत मे अपने उपयोग मे आने वाली वस्तुओ की मर्यादा करने की व्यवस्था है। यह एक प्रकार का स्वैच्छिक राशनिंग सिस्टम है । इससे व्यक्ति अनावश्यक सग्रह से बचता है और सयमित रहने से साधना को ओर प्रवृत्ति बढती है । इसी व्रत मे अर्थार्जन के ऐसे स्रोतो से बचते रहने की बात कही गयी है जिनसे हिंसा बढती है, कृषि उत्पादन को हानि पहु चती है और असामाजिक तत्त्वो को प्रोत्साहन मिलता है । भगवान महावीर ने ऐसे व्यवसायो को कर्मादान की सज्ञा दी है और उनकी सख्या पन्द्रह बतलायी है । आज के सन्दर्भ मे इगालकम्मे—जंगल मे आग लगाना, वणकम्मे—जगल आदि कटवा कर बेचना, असईजणपोसणया—असयति जनो का पोषण करना अर्थात् असामाजिक तत्त्वो को पोषण देना, आदि पर रोक का विशेष महत्त्व है ।

३ लोक कल्याण :—जैसा कि कहा जा चुका है कि महावीर ने सग्रह का निषेध नही किया है वल्कि आवश्यकता से अधिक सग्रह न करने को कहा है। इसके दो फलितार्थ हैं—एक तो यह कि व्यक्ति अपने लिये जितना आवश्यक हो उतना ही उत्पादन करे और निष्क्रिय वन जाय। दूसरा यह कि अपने लिए जितना आवश्यक हो उतना तो उत्पादन करे ही और दूसरो के लिये जो आवश्यक हो उसका भी उत्पादन करे। यह दूसरा अर्थ ही अभीष्ट है। जैन धर्म पुरुषार्थ प्रधान धर्म है अत वह व्यक्ति को निष्क्रिय व अकर्मण्य वनाने की शिक्षा नही देता। राष्ट्रीय उत्पादन मे व्यक्ति की महत्त्वपूर्ण भूमिका को जैन दर्शन स्वीकार करता है पर वह उत्पादन शोषण, जमाखोरी और आर्थिक विषमता का कारण न वने, इसका विवेक रखना आवश्यक है। सरकारी कानून-कायदे तो इस दृष्टि से समय-समय पर वनते ही रहते हैं पर जैन साधना मे व्रत-नियम, तप-त्याग और दान-दया के माध्यम से इस पर नियन्त्रण रखने का विधान है। तपो मे वैयावृत्य अर्थात् सेवा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसी सेवा-भाव से धर्म का सामाजिक पक्ष उभरता है। जैन धर्मावलम्वियो ने शिक्षा, चिकित्सा, छात्रवृत्ति, विधवा सहायता आदि के रूप मे अनेक ट्रस्ट खडे कर राष्ट्र की सेवा की है। जैन शास्त्रो मे पैसा अर्थात् रुपयो के दान का विशेष महत्त्व नही है। यहा विशेष महत्त्व रहा है - आहार दान, ज्ञान दान, औषध दान और अभय दान का। स्वय भूखे रह कर दूसरो को भोजन कराना पुण्य का कार्य माना गया है। अनशन अर्थात् भूखा रहना, अपने प्राणो के प्रति मोह छोडना प्रथम तप कहा गया है पर दूसरो को भोजन, स्थान, वस्त्र आदि देना, उनके प्रति मन से शुभ प्रवृत्ति करना, वाणी से हित वचन वोलना और शरीर से शुभ व्यापार करना तथा समाज सेवियो व लोक सेवको का आदर-सत्कार करना भी पुण्य माना गया है। इसके विपरीत किसी का भोजन-पानी से विच्छेद कराना—भत्तपाणवुच्छेए, अतिचार, पाप माना गया है।

महावीर ने स्पष्ट कहा है—जैसे जीवित रहने का हमे अधिकार है वैसे ही अन्य प्राणियो को भी। जीवन का विकास सघर्ष पर नही सहयोग पर ही आधारित है। जो प्राणी जितना अधिक उन्नत और प्रवुद्ध है, उसमे उसी अनुपात मे सहयोग और त्यागवृत्ति का विकास देखा जाता है। मनुष्य सभी प्राणियो मे श्रेष्ठ है। इस नाते दूसरो के

प्रति सहयोगी बनना उसका मूल स्वभाव है। अन्त करण मे सेवा-भाव का उद्रेक तभी होता है जब आत्मवत् सर्वभूतेपु जैसा उदात्त विचार शेप सृष्टि के साथ आत्मीय सम्बन्ध जोड पाता है। इस स्थिति मे जो सेवा की जाती है वह एक प्रकार से सहज स्फूर्त सामाजिक दायित्व ही होना है। लोक-कल्याण के लिए अपनी सम्पत्ति विसर्जित कर देना एक वात है और स्वय सक्रिय घटक बन कर सेवा कार्यों मे जुट जाना दूसरी वात है। पहला सेवा का नकारात्मक रूप है जवकि दूसरा सकारात्मक रूप। इसमे सेवाव्रती "स्लीपिंग पार्टनर" वन कर नही रह सकता, उसे सजग प्रहरी बन कर रहना होता है। श्रावक के बारह व्रतो मे पांचवा परिग्रह परिमाण व्रत सेवा के नकारात्मक पहलू को सूचित करता है जवकि ग्यारहवा पौषध व्रत और बारहवा अतिथि सविभाग व्रत सेवा के सकारात्मक पहलू को उजागर करता है।

लोक सेवक मे सरलता, सहृदयता और सवेदनशीलता का गुण होना आवश्यक है। सेवाव्रती को किसी प्रकार का अहम् न छू पाए और वह सत्तालिप्सु न वन जाए, इस बात की सतर्कता पद-पद पर वरतनी जरूरी है। विनय को जो धर्म का मूल कहा गया है, उसकी अर्थवत्ता इस सन्दर्भ मे वडी गहरी है।

लोकसेवा के नाम पर अपना स्वार्थ साधने वालो को महावीर ने इस प्रकार चेतावनी दी है :—

असविभागी असगहरूई अप्पमाणभोई,
से तारिसए नाराहए वयमिण।

अर्थात् जो असंविभागी है—जोवन साधनो पर व्यक्तिगत स्वामित्व की सत्ता स्थापित कर दूसरो के प्रकृति प्रदत्त सविभाग को नकारता है, असग्रेह रुचि—जो अपने लिए ही सग्रह करके रखता है और दूसरो के लिए कुछ भी नही रखता, अप्रमाण भोजी—मर्यादा से अधिक भोजन एव जोवन-साधनो का स्वय उपभोग करता है, वह आराधक नही विराधक है।

४. धर्मनिरपेक्षता :—स्वतन्त्रता, समानता और लोक-कल्याण का भाव धर्म-निरपेक्षता की भूमि मे ही फल-फूल सकता है। धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्म विमुखता या धर्म रहितता न होकर असाम्प्रदायिक भावना

ग्रौर सार्वजनीन समभाव से हे । हमारे देश मे विविध धर्म ग्रौर धर्मा-नुयायी हैं । इन विविध धर्मो के ग्रनुयायियो मे पारस्परिक सौहार्द, सम्मान और ऐक्य की भावना बनी रहे, सबको ग्रपने-ग्रपने ढग से उपासना करने ग्रौर अपने-ग्रपने धर्म का विकास करने का पूर्ण अवसर मिले, तथा धर्म के ग्राधार पर किसी के साथ भेद भाव या पक्षपात न हो इसी दृष्टि से धर्म निरपेक्षता का भाव हमारे सविधान का महत्त्वपूर्ण ग्रग बना है । धर्म निरपेक्षता की इस ग्रार्थभूमि के ग्रभाव मे न स्वतन्त्रता टिक सकती है ग्रौर न समानता और न लोक कल्याण की भावना पनप सकती है । जैन तीर्थङ्करो ने सभ्यता के प्रारम्भ मे ही शायद यह तथ्य हृदयगम कर लिया था इसीलिए उनका सारा चिन्तन धर्म निरपेक्षता ग्रर्थात् सार्वजनीन समभाव के रूप मे ही चला । इस सम्बन्ध मे निम्न-लिखित तथ्य विशेप महत्त्वपूर्ण हैं ‘—

(१) जैन तीर्थङ्करो ने अपने नाम पर धर्म का नामकरण नही किया । जैन शब्द बाद का शब्द है । इसे समरा (श्रमण), अर्हत् ग्रौर निर्ग्रन्थ धर्म कहा गया है । श्रमण शब्द समभाव, श्रमशीलता और वृत्तियो के उपशमन का परिचायक है । ग्रर्हत् शब्द भी गुरा वाचक है जिसने पूर्ण योग्यता—पूर्णता प्राप्त करली है वह है—ग्रर्हत् । जिसने सब प्रकार की ग्रन्थियो से छुटकारा पा लिया है वह है निर्ग्रन्थ जिन्होने राग-द्वेष रूप—शत्रु आन्तरिक विकारो को जीत लिया है वे जिन कहे गये हैं ग्रौर उनके ग्रनुयायी जैन । इस प्रकार जैन धर्म किसी विशेष व्यक्ति, सम्प्रदाय या जाति का परिचायक न होकर उन उदात्त जीवन ग्रादर्शों और सार्वजनीन भावो का प्रतीक है जिनमे ससार के सभी प्राणियो के प्रति ग्रात्मोपम्य मैत्री भाव निहित है ।

(२) जैन धर्म मे जो नमस्कार मन्त्र है, उसमे किसी तीर्थङ्कर, ग्राचार्य या गुरु का नाम लेकर वन्दना नही की गई है । उसमे पच परमेष्ठियो को नमन किया गया है—णमो ग्ररिहताण, णमो सिद्धारा, णमो ग्रायरियारा, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण । अर्थात् जिन्होने अपने शत्रुग्रो पर विजय प्राप्त करली है, उन ग्ररिहन्तो को नमस्कार हो, जो ससार के जन्म-मरण के चक्र से छूटकर शुद्ध परमात्मा बन गये हैं उन सिद्धो को नमस्कार हो, जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप ग्रादि ग्राचारो का स्वय पालन करते हैं और दूसरो से करवाते है उन ग्राचार्यो को

प्रति ।र हो, जो आगमादि ज्ञान के विशिष्ट व्याख्याता हैं और जिनके सान्निध्य मे रहकर दूसरे अध्ययन करते है, उन उपाध्यायो को नमस्कार हो, लोक मे जितने भी सत्पुरुष हैं उन सभी साधुओ को नमस्कार हो, चाहे वे किसी जाति, धर्म, मत या तीर्थ से सम्वन्वित हो । कहना न होगा कि नमस्कार मन्त्र का यह गुणनिष्ठ आधार जैन दर्शन की उदार-चेता सार्वजनीन भावना का मेरुदण्ड है ।

(३) जैन दर्शन मे आत्म-विकास अर्थात् मुक्ति को सम्प्रदाय के साथ नही बल्कि सदाचरण व धर्म के साथ जोडा गया है । महावीर ने कहा कि किसी भी परम्परा या सम्प्रदाय मे दीक्षित, किसी भी लिंग मे स्त्री हो या पुरुष, किसी भी वेश मे साधु हो या गृहस्थ, व्यक्ति अपना पूर्ण विकास कर सकता है । उसके लिए यह आवश्यक नही कि वह महावीर द्वारा स्थापित धर्म सघ मे ही दीक्षित हो । महावीर ने अश्रुत्वा केवली को—जिसने कभी भी धर्म को सुना भी नही, परन्तु चित्त की निर्मलता के कारण, केवल-ज्ञान की कक्षा तक पहुचाया है । पन्द्रह प्रकार के सिद्धो मे जो किसी सम्प्रदाय या धार्मिक परम्परा से प्रेरित होकर नही, वल्कि अपने ज्ञान से प्रबुद्ध होते हैं, सम्मिलित कर महावीर ने साम्प्रदायिकता की निस्सारता सिद्ध करदी है । आचार्य हरिभद्र ने स्पष्ट कहा है —

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष. कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः ।।

अर्थात् महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नही है और कपिल आदि के प्रति मेरा द्वेष नही है । मैं उसी वाणी को मानने के लिए तैयार हू जो युक्ति युक्त है ।

वस्तुतः धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्म के सत्य से साक्षात्कार करने की तटस्थ वृत्ति से है । निरपेक्षता अर्थात् अपने लगाव और दूसरो के द्वेष-भाव से परे रहने की स्थिति । इसी अर्थ मे जैन दर्शन में धर्म की विवेचना करते हुए वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है । जब महावीर से पूछा गया कि आप जिसे नित्य, ध्रुव और शाश्वत धर्म कहते है वह कौनसा है—तब उन्होंने कहा—किसी प्राणी को मत मारो, उपद्रव मत

करो, किसी को परिताप न दो और किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण न करो। इस दृष्टि से जो धर्म के तत्त्व है प्रकारान्तर से वे ही जनतान्त्रिक सामाजिक चेतना के तत्त्व हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन जनतान्त्रिक सामाजिक चेतना से प्रारम्भ से ही अपने तत्कालीन सन्दर्भों मे सम्पृक्त रहा है। उसकी दृष्टि जनतन्त्रात्मक परिवेश मे राजनैतिक क्षितिज तक ही सीमित नही रही है। उसने स्वतन्त्रता और समानता जैसे जनतान्त्रिक मूल्यो को लोकभूमि मे प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से अहिसा, अनेकान्त और अपरिग्रह जैसे मूल्यवान सूत्र दिये है और वैयक्तिक तथा सामाजिक धरातल पर धर्म-सिद्धान्तो की मनोविज्ञान और समाजविज्ञान सम्मत व्यवस्था दी है। इससे निश्चय ही सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र मे सास्कृतिक स्वराज्य स्थापित करने की दिशा मिलती है।

४
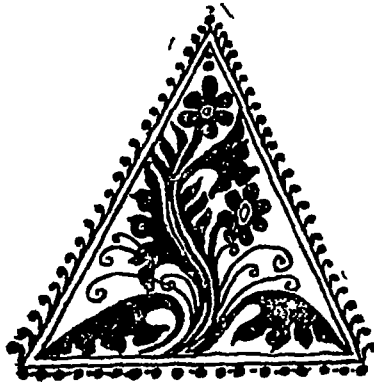
समतावादी समाज-रचना के आर्थिक तत्त्व

जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म के साथ अर्थ रखने का फलितार्थ यह है कि अर्थ का उपयोग धर्म द्वारा नियन्त्रित हो और धर्म अर्थ द्वारा प्रवृत्यात्मक बने। इस दृष्टि से धर्म-अर्थ का यह सम्बन्ध संतुलित अर्थ व्यवस्था और सामाजिक समानता स्थापित करने में सहायक बनता है। धर्म अन्तर की सुषुप्त शक्तियों को जागृत करने के साथ-साथ शरीर-रक्षण के लिये आवश्यक व्यवस्था भी देता है। इसी धरातल पर धर्म आर्थिक तत्त्वों से जुड़ता है।

जैन धर्म केवल निवृत्तिवादी दर्शन नहीं है। इसमें प्रवृत्तिमूलक धर्म के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं। वस्तुतः निवृत्ति और प्रवृत्ति के उचित समन्वय से ही धर्म का लोकोपकारी रूप प्रकट होता है। कहना तो यह चाहिये कि धर्म का प्रवृत्ति रूप ही उसकी आन्तरिकता को, उसकी अमूर्तता को उजागर करता है। उदाहरण के लिए अहिंसा धर्म की आन्तरिकता किसी को नहीं मारने तक ही सीमित नहीं है। वह दूसरों को अपने तुल्य समझने, उनसे प्रेम करने जैसे विधेयात्मक भाव में प्रतिफलित होती है। इस दृष्टि से जैन धर्म में जहाँ एक ओर संसार त्यागी, अपरिग्रही, पंच महाव्रत धारी साधु (श्रमण) हैं वहाँ दूसरी ओर संसार में रहते हुए मर्यादित प्रवृत्तियां करने वाले अणुव्रतधारी श्रावक (सद्गृहस्थ) भी हैं। जैन धर्मावलम्बी मात्र साधु ही नहीं हैं, बड़े-बड़े राजा-महाराजा, दीवान और कोषाध्यक्ष, सेनापति और किलेदार तथा सेठ-साहूकार भी इसके मुख्य उपासक रहे हैं। यही नहीं, वैभव सम्पन्नता,

दानशीलता, धनाढ्यता और व्यावसायिक कुशलता मे जैन धर्मावलम्बी सदा अग्रणी रहे हैं। ईमानदारी, विश्वस्तता और प्रामाणिकता के क्षेत्र मे भी ये प्रतिष्ठित रहे हैं। इस पृष्ठभूमि मे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैन धर्म के आचार-विचारो ने उनकी व्यावसायिकता, प्रवन्धकुशलता और आर्थिक गतिविधियो को प्रेरित-प्रभावित किया है।

आधुनिक युग मे महात्मा गाधी ने राजनीति और अर्थनीति के धरातल पर अहिंसात्मक सवेदना से प्रेरित होकर जो प्रयोग किये, उनमे जैन-दर्शन के प्रभावो को सुगमता से रेखाकित किया जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र मे ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त, आवश्यकताओ से अधिक वस्तुओ का सचय न करना, शरीर-श्रम, गो-पालन, स्वाद-विजय, उपवास आदि पर वल इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

जैन दर्शन का मूल लक्ष्य वीतराग भाव अर्थात् राग-द्वेष से रहित समभाव की स्थिति, प्राप्त करना है। जब तक हृदय मे या समाज मे विपम भाव वने रहते है, तब तक यह स्थिति प्राप्त नही की जा सकती। इस विपमता के कई स्तर हैं, जैसे सामाजिक विषमता, वैचारिक मतभेद आदि, पर इनमे प्रमुख है—आर्थिक विषमता। आर्थिक वैपम्य की जड स्वार्थ है, और स्वार्थ के कारण ही मन मे कषाय भाव जागृत होते हैं और प्रवृत्तियाँ पापोन्मुख वनती है। लोभ और मोह पापो के मूल कहे गये हैं। इस युग के प्रसिद्ध अर्थवेत्ता और चिन्तक कार्ल मार्क्स ने भी सभी सघर्षों का मूल अर्थ-मोह वताया है। भगवान् महावीर ने इसे परिग्रह कहा है। यह अर्थ मोह या परिग्रह कैसे टूटे, इसके लिये जैन धर्म में मुख्यत, वारह व्रतो की व्यवस्था की गई है। समतावादी समाज-रचना के लिये आवश्यक है कि न मन मे विषम भाव रहे और न समाज मे असमानता रहे। इसके लिये धार्मिक और आर्थिक दोनो स्तरो पर प्रयत्न अपेक्षित है। जैन दर्शन मे धार्मिक प्रेरणा से जो अर्थतन्त्र उभरा है, वह इस दिशा मे हमारा मार्ग-दर्शन कर सकता है। इस दृष्टि से निम्नलिखित मुख्य तत्त्वो को रेखाकित किया जा सकता है—

१ श्रम की प्रतिष्ठा।
२ आवश्यकताओ का स्वैच्छिक परिसीमन।
३ साधन-शुद्धि पर वल।
४ अर्जन का विसर्जन।

१. श्रम की प्रतिष्ठा

जैन मान्यता के अनुसार सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था मे जब प्राकृतिक कल्पवृक्षादि साधनो से आवश्यकताओ की पूर्ति होना सभव न रहा, तब ऋषभदेव ने असि, मसि और कृषि रूप जीविकोपार्जन की कला विकसित की और समाज को प्रकृति निर्भरता से श्रमजन्य आत्मनिर्भरता की ओर उन्मुख किया।

जैन-दर्शन मे आत्मा के पुरुषार्थ और श्रम की विशेष प्रतिष्ठा है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के बल पर ही आत्मसाधना कर परमात्म-दशा प्राप्त कर सकता है। इस दशा को प्राप्त करने के लिये किसी अन्य का पुरुषार्थ उसके लिये मार्गदर्शक और प्रेरक तो बन सकता है, पर सहायक नही। इसी दृष्टि से भगवान् महावीर ने अपने साधनाकाल मे इन्द्र की सहायता नही स्वीकार की और स्वय के पुरुषार्थ-पराक्रम के बल पर ही उपसर्गों का समभाव पूर्वक सामना किया। 'उपासक दशाग' सूत्र मे भगवान् महावीर और कुम्भकार सद्दालपुत्र का जो प्रसग वर्णित है, उससे स्पष्ट होता है कि गोशालक का आजीवक मत नियतिवाद का विश्वासी है जबकि महावीर का मत आत्म पुरुषार्थ और आत्म पराक्रम को ही अपनी उन्नति का केन्द्र मानता है। जैन साधु को 'श्रमण' और जैन श्रावक को 'श्रमणोपासक' कहा जाना भी इस दृष्टि से अर्थवान बनता है। तप के बारह भेदो मे 'भिक्षाचरी' और 'कायक्लेश' तथा दैनन्दिन प्रतिलेखन और परिमार्जन का क्रम भी प्रकारान्तर से साधना के क्षेत्र मे शारीरिक श्रम की महत्ता प्रतिष्ठापित करते हैं।

साधना के क्षेत्र मे प्रतिष्ठित श्रम की यह भावना सामाजिक स्तर पर भी समादृत हुई। भगवान् महावीर ने जन्म के आधार पर मान्य वर्ण व्यवस्था को चुनौती दी और उसे कर्म अर्थात् श्रम के आधार पर प्रतिष्ठापित किया। उनका स्पष्ट उद्घोष था—कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनता है। दूसरे शब्दो मे उन्होने 'जन्मना' जाति के स्थान पर 'कर्मणा समूह' को मान्यता दी और इस प्रकार सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार कर्म शक्ति को बनाया। इसी बिन्दु से श्रम अर्थ व्यवस्था से जुडा और कृषि, गोपालन, वाणिज्य आदि की प्रतिष्ठा बढी।

२. आवश्यकताओ का स्वैच्छिक परिसीमन

जीवन मे श्रम की प्रतिष्ठा होने पर जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओ को सभी पैदा करने लगे और आवश्यकतानुसार उनमे विनिमय होने लगा। धीरे-धीरे विनिमय के लाभ ने अनावश्यक उत्पादन क्षमता बढाई और तब अर्थ-लोभ ने मुद्रा को मान्यता दी। मुद्रा के प्रचलन ने समाज मे ऊँच-नीच के कई स्तर कायम कर दिये। समाज मे श्रम की अपेक्षा पू जी की प्रतिष्ठा बढी और नाना प्रकार से शोषण होने लगा। औद्योगीकरण, यन्त्रवाद और यातायात तथा सचार के द्रुतगामी साधनो के विकास से उत्पादन और वितरण मे असन्तुलन पैदा हो गया। एक वर्ग ऐसा बना जिसके पास आवश्यकता से अधिक पू जी और वस्तु-सामग्री जमा हो गयी और दूसरा वर्ग ऐसा बना जो जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओ से भी वचित रहा। पहला वर्ग दूसरे वर्ग के श्रम का शोषण कर उत्पादन मे सक्रिय भागीदार न बनने पर भी, अधिकाधिक पू जी सचित करने लगा। फलस्वरूप वर्ग सघर्ष बढा। यह सघर्ष प्रदेश विशेष तक सीमित न रहकर, अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गया।

इस समस्या को हल करने के लिए आधुनिक युग मे समाजवाद, साम्यवाद जैसी कई विचारधाराए सामने आई। सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। भगवान् महावीर ने आज से २५०० वर्ष पूर्व इस समस्या पर चिन्तन किया और कुछ सूत्र दिये जो आज भी हमारे लिए समाधान कारक है।

१ उनका पहला सूत्र यह है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का सचय न करो। मनुष्य की इच्छाए आकाश की तरह अनन्त हैं और ज्यो-ज्यो लाभ होता है, लोभ की प्रवृत्ति बढती जाती है। यदि चादी-सोने के कैलाश पर्वत भी व्यक्ति को प्राप्त हो जाए, तब भी उसकी इच्छा पूरी नही हो सकती, अत इच्छा का नियमन आवश्यक है। इस दृष्टि से श्रावको के लिए परिग्रह-परिमाण या इच्छा-परिमाण व्रत की व्यवस्था की गयी है। इसके अनुसार सासारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा को सीमित किया जाता है और यह निश्चय किया जाता है कि मैं इतने पदार्थों से अधिक की इच्छा नही करू गा। शास्त्रकारो ने ऐसे पदार्थो को नौ भागो मे विभक्त किया है—१ क्षेत्र (खेत आदि भूमि) २ वस्तु (निवास योग्य स्थान) ३ हिरण्य (चादी) ४ सुवर्ण (सोना)

५ धन (सोना-चादी के ढले हुए सिक्के अथवा घी, गुड, शक्कर आदि मूल्यवान पदार्थ) ६ धान्य (गेहू, चावल, तिल आदि) ७. द्विपद (जिसके दो पॉव हो, जैसे मनुष्य और पक्षी) ८ चौपद (जिसके चार पाव हो, जैसे हाथी, घोडे, गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि) और ६. कुप्य (वस्त्र, पात्र, औषध, बासन आदि)।

इस प्रकार की मर्यादा से व्यक्ति अनावश्वक संग्रह और शोषण की प्रवृत्ति से बचता है।

२ भगवान् महावीर का दूसरा सूत्र यह है कि विभिन्न दिशाओ मे आने-जाने के सम्बन्ध मे मर्यादा कर यह निश्चय किया जाये कि मैं अमुक स्थान से अमुक दिशा मे अथवा सब दिशाओ मे इतनी दूर से अधिक नही जाऊगा। इस मर्यादा या निश्चय को दिक्परिमाण व्रत कहा जाता है। इस मर्यादा से वृत्तियो का सकोच होता है, मन की चचलता मिटती है और अनावश्यक लाभ या सग्रह के अवसरो पर स्वैच्छिक रोक लगती है। प्रकारान्तर से दूसरो के अधिकार-क्षेत्र मे उपनिवेश बसा कर लाभ कमाने की अथवा शोषण करने की वृत्ति से बचाव होता है। आधुनिक युग मे प्रादेशिक सीमा, अन्तर्राष्ट्रीय सीमा, नाकेबदी आदि की व्यवस्था इसी व्रत के फलितार्थ हैं। क्षेत्र सीमा का अतिक्रमण करना आज भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की निगाह मे अपराध माना जाता है। तस्कर वृत्ति इसका उदाहरण है।

३ भगवान् महावीर ने तीसरा सूत्र यह दिया कि मर्यादित क्षेत्र मे रहे हुए पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा भी निश्चित की जाए। दिक्परिमाण व्रत के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर का क्षेत्र एव वहा के पदार्थादि से तो निवृत्ति हो जाती है पर यदि मर्यादित क्षेत्र के पदार्थो के उपभोग की मर्यादा निश्चित नही की जाती तो उससे भी अनावश्क सग्रह का अवसर बना रहता है। अत उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत को विशेष व्यवस्था की गयी है। जो एक वार भोगा जा चुकने के पश्चात् फिर न भोगा जा सके, उस पदार्थ को भोगना, काम मे लेना, उपभोग है, जैसे भोजन, पानी आदि; और जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके, उसे भोगना परिभोग है, जैसे वस्त्र, बिस्तर आदि। उपभोग-वस्तुओ मे वे वस्तुए आती है जिनका होना शरीर रक्षा के लिए आवश्यक है। अर्थशास्त्रियो ने ऐसी वस्तुओ

को आवश्यक वस्तुए या Necessity कहा है। परिभोग वस्तुओ मे उन पदार्थों की गणना है जो शरीर को सुन्दर और अलकृत बनाते हैं अथवा जो शरीर के लिए आनन्ददायी माने जाते हैं। अर्थशास्त्रियो ने इन वस्तुओ को आरामदायक (Comforts) और वैलासिक (Luxuries) वस्तुओ की श्रेणी मे रखा है। शास्त्रकारो ने उपभोग्य परिभोग्य वस्तुओ को २७ भागो मे विभक्त किया है।

इस प्रकार की मर्यादा का उद्देश्य यही है कि व्यक्ति का जीवन सादगीपूर्ण हो और वह स्वय जीवित रहने के साथ-साथ दूसरो को भी जीवित रहने का अवसर और साधन प्रदान कर सके।

(४) भगवान् महावीर ने चौथा सूत्र यह दिया कि व्यक्ति प्रतिदिन अपने उपभोग-परिभोग मे आने वाली वस्तुओ की मर्यादा निश्चित करे और अपने को इतना सयमशील बनाये कि वह दूसरो के लिए किसी भी प्रकार बाधक न बने। दिक्परिमाण और उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत जीवन भर के लिए स्वीकार किये जाते हैं। अतः इनमे आवागमन का जो क्षेत्र निश्चित किया जाता है तथा उपभोग-परिभोग के लिए जो पदार्थ मर्यादित किये जाते है, उन सबका उपयोग वह प्रतिदिन नही करता है। इसीलिए एक दिन-रात के लिए उस मर्यादा को भी घटा देना, आवागमन के क्षेत्र और भोग्योपभोग्य पदार्थों की मर्यादा को और कम कर देना, देशावकाशिक व्रत है। अर्थात् उक्त व्रतो मे जो अवकाश रखा है, उसको भी प्रतिदिन सक्षिप्त करते जाना।

श्रावक के लिए प्रतिदिन चौदह नियम चिन्तन करने की जो प्रथा है वह इस देशावकाशिक व्रत का ही रूप है। शास्त्रो मे वे नियम इस प्रकार कहे गये हैं —

सचित्त दव्व विग्गई, पन्नी ताम्बुल वत्थ कुसुमेषु ।
वाहण सयण विलेवण, बम्भ दिसि नाहण भत्तेषु ।।

अर्थात्—१ सचित्त वस्तु, २ द्रव्य. ३ विगय, ४ जूते-खडाऊ, ५ पान, ६ वस्त्र, ७ पुष्प, ८ वाहन, ९ शयन, १० विलेपन, ११ ब्रह्मचर्य, १२. दिशा, १३ स्नान और १४ भोजन। इन नियमो से व्रत विषयक जो मर्यादा रखी जाती है, उसका सकोच होता है और आवश्यकतायें उत्तरोत्तर सीमित होती हैं।

उपर्युक्त चारो सूत्रो मे जिन मर्यादाओ की बात कही गयी है वे व्यक्ति की अपनी इच्छा और शक्ति पर निर्भर हैं। महावीर ने यह नही कहा कि आवश्यकतायें इतनी-इतनी सीमित हो। उनका सकेत इतना भर है कि व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार आवश्यकतायें सीमित करे, इच्छाये नियत्रित करे क्योकि यही परम शान्ति और आनन्द का रास्ता है। आज की जो राजनैतिक चिन्तन धारा है उसमे भी स्वामित्व और आवश्यकताओ को नियत्रित करने की बात है। यह नियमन, नियत्रण और सोमाकन विविध कर पद्धतियो के माध्यम से कानून के तहत किया जा रहा है। यथा—आयकर, सम्पत्तिकर, भूमि और भवन कर, मृत्यु कर और नागरीय भूमि सीमाकन एवं विनियमन अधिनियम (अरबन लैण्ड सीलिंग एण्ड रेग्युलेशन) एक्ट।

भगवान् महावीर ने अपने समय मे, जबकि जनसख्या इतनी नही थी, जीवन मे जटिलताये भी कम थी, तब यह व्यवस्था दी थी। उसके बाद तो जनसख्या मे विस्फोटक वृद्धि हुई है, जीवन पद्धति जटिल बनी है, आर्थिक दबाव बढा है, आर्थिक असमानता की खाई विस्तृत हुई है, फिर भी लगता है कि महावीर द्वारा दिया गया समाधान आज भी अधिक व्यावहारिक और उपयोगी है क्योकि कानून के दबाव से व्यक्ति बचने का प्रयत्न करता है, पर स्वेच्छा से जो आत्मानुशासन आता है, वह अधिक प्रभावी बनता है।

३. साधन-शुद्धि पर बल—भगवान् महावीर ने आवश्यकताओ को सीमित करने के साथ-साथ जो आवश्यकताये शेष रहती हैं, उनकी पूर्ति के लिए भी साधन शुद्धि पर विशेष बल दिया है। महात्मा गाधी भी साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की पवित्रता को महत्त्व देते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि व्रत, साधन की पवित्रता के ही प्रेरक और रक्षक है। इन व्रतो के पालन और इनके अतिचारो से बचने का जो विधान है, वह भाव-शुद्धि का सूचक है। अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए व्यक्ति को स्थूल हिंसा से बचना चाहिये। उसे ऐसे नियम नही बनाने चाहिए जो अन्याय युक्त हो न ऐसी सामाजिक रूढियो के बन्धन स्वीकार करने चाहिए जिनसे गरीबो का अहित हो। 'अहिभार' (अति भार) अतिचार इस बात पर बल देता है कि अपने अधीनस्थ कर्मचारियो से निश्चित समय से अधिक काम न लिया जाय, न पशुओ, मजदूरो आदि पर अधिक बोझ लादा जाए और न बाल-विवाह, अनमेल विवाह और रूढियो को

अपनाकर जीवन को भारभूत बनाया जाए। 'भत्त-पाण-विच्छेद' अतिचार से यह तथ्य गृहीत होता है कि व्यक्ति अपना व्यापार इस प्रकार करे कि उससे किसी का भोजन व पानी न छीना जाए।

सत्याणुव्रत मे सत्य के रक्षण और असत्य से बचाव पर बल दिया गया है। कहा गया है कि व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए कन्नालिये अर्थात् कन्या के विषय मे, गवालिए अर्थात् धरोहर के विषय मे, भोमालिए अर्थात् भूमि के विषय मे, णासावहारे अर्थात् धरोहर के विषय मे झूठ न वोले कूडएसक्खिजे अर्थात् झूठी साक्षी न दे। इसी प्रकार सत्यव्रत के अतिचारो से बचने के लिए कहा गया है कि बिना विचारे एकदम किसी पर दोपारोपण न करे, दूसरो को झूठा उपदेश न दे, झूठे लेख, झूठे दस्तावेज न लिखे, न झूठे समाचार या विज्ञापन आदि प्रकाशित करायें और न झूठे हिसाव आदि रखे।

अस्तेय व्रत की परिपालना का, साधन शुद्धता की दृष्टि से विशेप महत्त्व है। मन, वचन और काय द्वारा दूसरे के हको को स्वय हरण करना और दूसरो से हरण करवाना चोरी है। आज चोरी के साधन स्थूल से सूक्ष्म वनते जा रहे है। सेंध लगाने, डाका डालने, ठगने, जेब काटने वाले ही चोर नही हैं बल्कि खाद्य वस्तुओ मे मिलावट करने वाले, एक वस्तु वताकर दूसरी लेने-देने वाले, कम तोलने और कम नापने वाले, चोरो द्वारा हरण की हुई वस्तु खरीदने वाले, चोरो को चोरी की प्रेरणा करने वाले, झूठा जमा खर्च करने वाले, जमाखोरी करके वाजारो मे एकदम से वस्तु का भाव घटा या वढा देने वाले, झूठे विज्ञापन करने वाले, अवैध रूप से अधिक सूद पर रुपया देने वाले भी चोर हैं। भगवान महावीर ने अस्तेय व्रत के अतिचारो मे इन सबका समावेश किया है। इन सूक्ष्म तरीको की चौर्य वृत्ति के कारण ही आज मुद्रा-स्फीति का प्रसार है और विश्व की अर्थव्यवस्था चरमरा रही है। एक ओर काला धन वढता जा रहा है तो दूसरी ओर गरीव अधिक गरीब बनता जा रहा है। अर्थव्यवस्था के सन्तुलन के लिए आजीविका के जितने भी साधन हैं, पू जी के जितने भी स्रोत है उनका शुद्ध और पवित्र होना आवश्यक है।

इसी सन्दर्भ मे भगवान् महावीर ने ऐसे कार्यों के द्वारा आजीविका के उपार्जन का निषेध किया है जिनसे पाप का भार वढता है और समाज

के लिए जो अहित कर हो। ऐसे कार्यों की सख्या शास्त्रो मे पन्द्रह गिनाई गयी है और इन्हे 'कर्मादान' कहा गया है। इनमे से कुछ कर्मादान तो ऐसे है जो लोक मे निंद्य माने जाते हैं और जिनके करने से सामाजिक प्रतिष्ठा नष्ट होती है। उदाहरण के लिये जगल को जलाना (इगालकम्मे), जगल से लकडी आदि काटकर बेचना (त्रणकम्मे) शराब आदि मादक पदार्थों का व्यापार करना (रसवाणिज्जे), अफीम, संखिया आदि जीवन-नाशक पदार्थों को बेचना (विसवाणिज्जे) सुन्दर केश वाली स्त्रियो का क्रय-विक्रय करना (कंसवाणिज्जे), वनदहन करना (दवागिदावणिया कम्मे), असतजनो अर्थात् असामाजिक तत्त्वो का पोपण करना (असईजण-पोसणिया कम्मे) आदि कार्यों को लिया जा सकता है।

साधन-शुद्धि मे विवेक, सावधानी और जागरुकता का महत्त्व है। गृहस्थ को अपनी आजीविका के लिए आरम्भज हिसा आदि करनी पडती है। यह एक प्रकार का अर्थदण्ड है जो प्रयोजन विशेष से होता है पर बिना किसी प्रयोजन के निष्कारण ही केवल हास्य, कौतूहल, अविवेक या प्रमाद वश जीवो को कष्ट देना, सताना अनर्थदण्ड है। इस प्रवृत्ति से व्यक्ति को बचना चाहिये और विवेकपूर्वक अपना कार्य-व्यापार सम्पादित करना चाहिये।

जैन दर्शन मे साधन शुद्धि पर विशेष बल इसलिये भी दिया गया है कि उससे व्यक्ति का चरित्र प्रभावित होता है। 'जैसा खावे अन्न वंसा होवे मन' सूक्ति इस प्रसग मे विशेष अर्थ रखती है। बुरे साधनो से एकत्र किया हुआ धन अन्तत व्यक्ति को दुर्व्यसनो की ओर ढकेलता है और उसके पतन का कारण बनता है। शास्त्रकारो ने इसलिये खाद्य शुद्धि और खाद्य सयम पर विशेष बल दिया है। तप के बारह प्रकारो मे प्रथम चार तप—अनशन, उणोदरी, भिक्षाचर्या और रस-परित्याग प्रकारान्तर से भोजन से ही सम्बन्धित है। साधु की भिक्षाचर्या के सम्बन्ध मे जो नियम बनाये गये है वे भी किसी न किसी रूप मे गृहस्थ की साधन शुद्धि और पवित्र भावना पर ही बल देते है।

४ **अर्जन का विसर्जन :**—उपर्युक्त विवेचन से यह नही समझा जाना चाहिये कि जैन धर्मावलम्बी आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न नही होते। इसके विपरीत ऐसे उदाहरण पर्याप्त हैं जो उनकी वैभव सम्पन्नता और श्रीमन्तता को सूचित करते हैं। 'उपासक दशाग' सूत्र मे भगवान् महावीर

के दस आदर्श श्रावको का वर्णन आया है। वहाँ उल्लेख है कि आनन्द, नन्दिनीपिता और सोलिहिपिता के पास १२-१२ करोड सोनैयो की सम्पत्ति थी। चार-चार करोड सोनैया निधान रूप अर्थात् खजाने मे था, चार-चार करोड सोनैयो का विस्तार (द्विपद, चतुष्पद, धन-धान्य आदि की सम्पत्ति) था और चार-चार सोनैयो से व्यापार चलता था। इसके अलावा उनके पास गायो के चार-चार गोकुल थे (एक गोकुल मे दस-हजार गाये होती थी)। इसी प्रकार कामदेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक के पास १८-१८ करोड सोनैये थे और गायो के ६ गोकुल थे। चुलनीपिता, सुरादेव, महाशतक के पास २४-२४ करोड सोनैयो की सम्पत्ति और गायो के ८ गोकुल थे। सद्दालपुत्त जो जाति का कुम्भकार था, उसके पास तीन करोड सोनैयो की सम्पत्ति थी और दस हजार गायो का एक गोकुल था। मध्ययुग मे वस्तुपाल-तेजपाल और भामाशाह जैसे श्रेष्ठि थे। आधुनिक युग मे भी श्रेष्ठियो की कमी नही है।

इससे स्पष्ट है कि महावीर गरीबी का समर्थन नही करते। उनका प्रहार धन के प्रति रही हुई मूर्च्छावृत्ति पर है। वे व्यक्ति को निष्क्रिय या अकर्मण्य बनाने को नही कहते, पर उनका बल अर्जित सम्पत्ति को दूसरो मे बाँटने पर है। उनका स्पष्ट उद्घोष है—'असविभागी ण हु तस्स मोक्खो' अर्थात् जो अपने प्राप्य को दूसरो मे बाँटता नही, उसकी मुक्ति नही होती। अर्जन के विसर्जन का यह भाव उदार और सवेदनशील व्यक्ति के हृदय मे ही जागृत हो सकता है और ऐसा व्यक्ति क्रूर, हिंसक या पापाचारी नही हो सकता। निश्चय ही ऐसा व्यक्ति मिष्टभाषी, मितव्ययी, सयमी और सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला होगा और इन सबके सम्मिलित प्रभाव से उसकी सम्पत्ति भी उत्तरोत्तर वृद्धिमान होगा।

अर्जन का विसर्जन नियमित रूप से होता रहे और मर्यादा से अधिक सम्पत्ति सचित न हो, इसके लिए अतिथि सविभाग व्रत और दान का विधान है। भगवती सूत्र मे तुगिया नगरी के ऐसे श्रावको का वर्णन आता है जिनके घरो के द्वार अतिथियो के लिए सदा खुले रहते थे। अतिथियो मे साधुओ के अतिरिक्त जरूरतमन्द लोगो का भी समावेश है। पुण्य तत्त्व के प्रसग मे पुण्य बन्ध के नौ कारण बताये गये हैं। इस दृष्टि से वे उल्लेखनीय हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं —

(१) भूखे को भोजन देना (अन्न पुण्य), (२) प्यासे को पानी (पेय पदार्थ) पिलाना, (पान पुण्य), (३) जरूरतमन्द को मकान आदि देना (स्थान पुण्य), (४) पाट, बिस्तर आदि देना (शयन पुण्य), (५) वस्त्र आदि देना (वस्त्र पुण्य), (६) मन, (७) वचन और (८) शरीर की शुभ प्रवृत्ति से समाज सेवा करना (मन पुण्य, वचन पुण्य और काय पुण्य) तथा (९) पूज्य पुरुषो और समाज सेवियो के प्रति विनम्र भाव प्रकट करते हुए उनका सम्मान-सत्कार करना (नमस्कार पुण्य)। आज भी विभिन्न व्यक्तियो और सस्थाओ—द्वारा गरीबो, विधवाओ और असहायो के लिये कई पारमार्थिक कार्य ट्रस्टो द्वारा सम्पन्न होते हैं।

आवश्यकता से अधिक सचय न करना और मर्यादा से अधिक प्राप्य सम्पत्ति को जरूरतमन्द लोगो मे वितरित कर देने की भावना ही जन कल्याण के कार्य को आगे बढाती है। दान या त्याग का यह रूप केवल रूढि पालन नही है। समाज के प्रति दायित्व बोध भी है। दान का उद्देश्य समाज मे ऊँच-नीच का स्तर कायम करना नही, वरन् जीवन रक्षा के लिये आवश्यक वस्तुओ का समवितरण करना है। धर्म शासन इस प्रवृत्ति पर जितना बल देता है उतना ही वल जनतात्रिक समाजवादी शासन व्यवस्था भी देती है।

जैन दर्शन मे दान का यह पक्ष केवल अर्थ दान तक ही सीमित नही है। यहाँ अर्थदान से अधिक महत्त्व दिया गया है आहार दान, औषध दान, ज्ञान दान और अभय दान को। उत्तम दान के लिये यह आवश्यक है कि जो दान दे रहा है वह निष्काम भावना से दे और जो दान ले रहा है उसमे किसी प्रकार की दीन या हीन भावना पैदा न हो। दान देते समय दानदाता को मान सम्मान की भूख नही होनी चाहिये। निर्लोभ और निरभिमान भाव से किया गया दान ही सच्चा दान है। दाता के मन मे किसी प्रकार का ममत्व भाव न रहे, इसी दृष्टि से शास्त्रो मे गुप्तदान की महिमा बतायी गई है।

दान की होड मे येन-केन प्रकारेण धन बटोरने की प्रवृत्ति आत्मलक्षी व्यक्ति के लिये हितकर नही हो सकती। दान मे मात्रा का नही, गुणात्मकता का महत्त्व है। नीति और न्याय से अर्जित सम्पदा का दान ही वास्तविक दान है। आवश्यकता से अधिक वस्तु का सचय न

कर, दूसरो को दे देना लोक धर्म है, पर अपनी आवश्यक वस्तुओ मे से कमी करके, दूसरो के लिये देना आत्म धर्म है। इस दूसरे रूप मे ही व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियो का विशेष नियमन कर पाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन मे जिन आर्थिक तत्त्वो का सगुम्फन है, उनकी आज के सन्दर्भ मे बडी प्रासगिकता है और धर्म तथा अर्थ की चेतना परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक है।
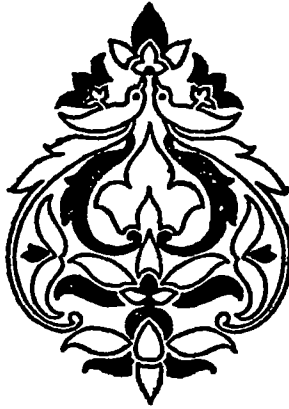
५

सांस्कृतिक समन्वय और भावनात्मक एकता

धर्म और संस्कृति

सस्कृति जन का मस्तिष्क है और धर्म जन का हृदय। जब-जब सस्कृति ने कठोर रूप धारण किया, हिंसा का पथ अपनाया, अपने रूप को भयावह व विकृत बनाया, तब-तब धर्म ने उसे हृदय का प्यार लुटा कर, मैत्री और करुणा की बरसात कर, उसके रक्तानुरंजित पथ को शीतल और अमृतमय बनाया। सयम, तप और सदाचार से उसके जीवन को सौन्दर्य और शक्ति का वरदान दिया। मनुष्य की मूल समस्या है—आनन्द की खोज। यह आनन्द तब तक नही मिल सकता जब तक कि मनुष्य भय-मुक्त न हो, आतक-मुक्त न हो। इस भय-मुक्ति के लिये दो शर्तें आवश्यक है। प्रथम तो यह कि मनुष्य अपने जीवन को इतना शीलवान, सदाचारी और निर्मल बनाये कि कोई उससे न डरे। द्वितीय यह कि वह अपने मे इतना पुरुषार्थ, सामर्थ्य और बल सचित करे कि कोई उसे डरा-धमका न सके। प्रथम शर्त को धर्म पूर्ण करता है तो दूसरी को सस्कृति।

जैन धर्म और मानव-संस्कृति

जैन धर्म ने मानव सस्कृति को नवीन रूप ही नही दिया, उसके अमूर्त भाव तत्त्व को प्रकट करने के लिए सभ्यता का विस्तार भी किया। प्रथम तीर्थंकर—ऋषभदेव इस मानव-सस्कृति के सूत्रधार बने। उनके पूर्व युगलियो का जीवन था, भोगमूलक दृष्टि की प्रधानता थी, कल्पवृक्षो के आधार पर जीवन चलता था। कर्म और कर्त्तव्य की भावना सुषुप्त थी।

लोग न खेती करते थे न व्यवसाय। उनमे सामाजिक चेतना और लोक दायित्व की भावना के अकुर नही फूटे थे। ऋषभदेव ने आदर्श राजा के रूप मे भोगमूलक सस्कृति के स्थान पर कर्ममूलक सस्कृति की प्रतिष्ठा की। पेड-पौधो पर निर्भर रहने वाले लोगो को खेती करना वताया। आत्म-शक्ति से अनभिज्ञ रहने वाले लोगो को अक्षर और लिपि का ज्ञान देकर पुरुपार्थी वनाया। दैववाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की मान्यता को सम्पुष्ट किया। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लडने के लिये हाथो मे वल दिया। जड सस्कृति को कर्म को गति दी, चेतनाशून्य जीवन को सामाजिकता का वोध और सामूहिकता का स्वर दिया। पारिवारिक जीवन को मजवूत वनाया, विवाह, प्रथा का समारम्भ किया। कला-कौशल और उद्योग-धन्धो की व्यवस्था कर निष्क्रिय जीवन-यापन की प्रणाली को सक्रिय और सक्षम वनाया।

संस्कृति का परिष्कार और महावीर

अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक आते-आते इस सस्कृति मे कई परिवर्तन हुए। सस्कृति के विशाल सागर मे विभिन्न विचार-धाराओ का मिलन हुआ। पर महावीर के समय इस सास्कृतिक मिलन का कुत्सित और वीभत्स रूप ही सामने आया। सस्कृति का जो निर्मल और लोक-कल्याणकारी रूप था, वह अव विकारग्रस्त होकर चन्द व्यक्तियो की ही सम्पत्ति वन गया। धर्म के नाम पर क्रियाकाण्ड का प्रचार वढा। यज्ञ के नाम पर मूक पशुओ की वलि दी जाने लगी। अश्वमेध ही नही नरमेध भी होने लगे। वर्णाश्रम व्यवस्था मे कई विकृतियाँ आ गईं। स्त्री और शूद्र अधम तथा निम्न समझे जाने लगे। उनको आत्म-चिन्तन और सामाजिक-प्रतिष्ठा का कोई अधिकार न रहा। त्यागी-तपस्वी समझे जाने वाले लोग अव लाखो-करोडो की सम्पत्ति के मालिक वन वैठे। सयम का गला घोटकर भोग और ऐश्वर्य किलकारियाँ मारने लगा। एक प्रकार का सास्कृतिक सकट उपस्थित हो गया। इससे मानवता को उवारना आवश्यक था।

वर्द्धमान महावीर ने सवेदनशील व्यक्ति की भाँति इस गम्भीर स्थिति का अनुशीलन और परीक्षण किया। साढे वारह वर्षों की कठोर साधना के वाद वे मानवता को इस सकट से उवारने के लिए अमृत ले आये। उन्होने घोषणा की—सभी जीव जीना चाहते है, मरना कोई नही

चाहता ।[1] सभी को अपना आयुष्य प्रिय है। सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है। वध सभी को अप्रिय लगता है और जीना सबको प्रिय लगता है। प्राणी मात्र जीवित रहने की कामना करता है।[2] यज्ञ के नाम पर की गई हिंसा अधर्म है। सच्चा यज्ञ आत्मा को पवित्र बनाने मे है। इसके लिये क्रोध की बलि दीजिये, मान को मारिये, माया को काटिये और लोभ का उन्मूलन कीजिये। महावीर ने प्राणी मात्र की रक्षा करने का उद्बोधन दिया। धर्म के इस अहिंसामय रूप ने सस्कृति को अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत बना दिया। उसे जनरक्षा (मानव-समुदाय) तक सीमित न रख कर समस्त प्राणियो की सुरक्षा का भार भी सम्भलवा दिया। यह जनतत्र से भी आगे प्राणतन्त्र की व्यवस्था का सुन्दर उदाहरण है।

जैन धर्म ने सास्कृतिक विषमता के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की। वर्णाश्रम व्यवस्था की विकृति का शुद्धिकरण किया। जन्म के आधार पर उच्चता और नीचता का निर्णय करने वाले ठेकेदारो को मुँहतोड जवाब दिया। कर्म के आधार पर ही व्यक्तित्व की पहचान की। हरिकेशी चाण्डाल और सद्दालपुत्त कुम्भकार को भी आचरण की पवित्रता के कारण आत्म-साधको मे गौरवपूर्ण स्थान दिया।

अपमानित और अचल सम्पत्तिवत् मानी जाने वाली नारी के प्रति आत्म-सम्मान और गौरव की भावना जगाई। उसे धर्म ग्रथो को पढने का ही अधिकार नही दिया वरन् आत्मा के चरम-विकास मोक्ष की भी अधिकारिणी माना। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस युग मे सर्वप्रथम मोक्ष जाने वाली ऋषभदेव की माता मरुदेवी ही थी। नारी को अबला और शक्तिहीन नही समझा गया। उसकी आत्मा मे भी उतनी ही शक्ति सभाव्य मानी गई जितनी पुरुष मे। महावीर ने चन्दनबाला को इसी शक्ति को पहचान कर उसे छत्तीस हजार साध्वियों का नेतृत्व प्रदान किया। नारी को दब्बू, आत्मभीरु और साधना क्षेत्र मे बाधक नही माना गया। उसे साधना मे पतित पुरुष को उपदेश देकर सयम-पथ पर लाने वाली प्रेरक शक्ति के रूप मे देखा गया। राजुल ने सयम से पतित रथनेमि

---

१ सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ —दशवकालिक ६/१०

२ सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया, दुक्ख पडिकूला, अप्पियवहा।
पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं, जीविय पिय ॥ —आचाराग २/२/३

को उद्‌बोधन देकर[3] अपनी आत्मशक्ति का ही परिचय नही दिया, वरन् तत्त्वज्ञान का वास्तविक स्वरूप भी समझाया ।

सास्कृतिक समन्वय और भावनात्मक एकता

जैन धर्म ने सास्कृतिक समन्वय और एकता की भावना को भी बलवती बनाया । यह समन्वय विचार और आचार दोनो क्षेत्रो मे देखने को मिलता है । विचार-समन्वय के लिए अनेकान्त दर्शन की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । भगवान् महावीर ने इस दर्शन की मूल भावना का विश्लेषण करते हुए सासारिक प्राणियो को बोध दिया —किसी बात को, सिद्धात को एक तरफ से मत देखो, एक ही तरह उस पर विचार मत करो । तुम जो कहते हो वह सच होगा, पर दूसरे जो कहते हैं, वह भी सच हो सकता है । इसलिये सुनते ही भड़को मत, वक्ता के दृष्टिकोण से विचार करो ।

आज ससार मे जो तनाव और द्वन्द्व है वह दूसरो के दृष्टिकोण को न समझने या विपर्यय रूप से समझने के कारण हैं । अगर अनेकान्तवाद के आलोक मे सभी व्यक्ति और राष्ट्र चिन्तन करने लग जायें तो झगडे की जड ही न रहे । सस्कृति के रक्षण और सवर्धन मे जैनधर्म की यह देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ।

आचार-समन्वय की दिशा मे मुनि-धर्म और गृहस्थ धर्म की व्यवस्था दी है । प्रवृत्ति और निवृत्ति का सामजस्य किया गया है । ज्ञान और क्रिया का, स्वाध्याय और सामायिक का सन्तुलन इसीलिये आवश्यक माना गया है । मुनिधर्म के लिये महाव्रतो के परिपालन का विधान है । वहाँ सर्वथा—प्रकारेण तीन करण तीन योग (मन, वचन और कर्म से न करना, न कराना और न करते हुए का अनुमोदन करना) से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के त्याग की बात कही गई है । गृहस्थ धर्म मे अणुव्रतो की व्यवस्था दी गई है, जहाँ यथाशक्य इन आचार नियमो का पालन अभिप्रेत है । प्रतिमाधारी श्रावक वानप्रस्थाश्रमी की तरह और साधु सन्यासाश्रमी की तरह माना जा सकता है ।

---

३ विरत्थु ते जसोकामी, जो त जीवियकारणा ।
वन्त इच्छसि आवेउ, सेय ते मरण भवे ॥ —उत्तराध्ययन २२/४३

हे यश कामिन् ! धिक्कार है तुझे कि तू भोगी जीवन के लिए वमन किये हुए भोगो को पुन भोगने की इच्छा करता है । इससे तो तेरा मरना श्रेयस्कर है ।

सास्कृतिक एकता की दृष्टि से जैनधर्म का मूल्याकन करते समय यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि उसने सम्प्रदायवाद, जातिवाद, प्रातीयतावाद, आदि सभी मतभेदो को भुला कर राष्ट्र-देवता को बडी उदार और आदर की दृष्टि से देखा है। प्रत्येक धर्म के विकसित होने के कुछ विशिष्ट क्षेत्र होते हैं। उन्ही दायरो मे वह धर्म बंधा रहता है पर जैन धर्म इस दृष्टि से किसी जनपद या प्रान्त विशेष मे ही बन्धा हुआ नही रहा। उसने भारत के किसी एक भाग विशेष को ही अपनी श्रद्धा का, साधना का और चिन्तना का क्षेत्र नही बनाया। वह सम्पूर्ण राष्ट्र को अपना मानकर चला। धर्म का प्रचार करने वाले विभिन्न तीर्थंकरो की जन्मभूमि, दीक्षास्थली, तपोभूमि, निर्वाणस्थली, आदि अलग-अलग रही है। भगवान् महावीर विदेह (उत्तर बिहार) में उत्पन्न हुए तो उनका साधना क्षेत्र व निर्वाण स्थल मगध (दक्षिण बिहार) रहा। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म तो वाराणसी मे हुआ पर उनका निर्वाणस्थल बना सम्मेदशिखर। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव अयोध्या मे जन्मे, पर उनकी तपोभूमि रही कैलाश पर्वत और भगवान् अरिष्टनेमि का कर्म व धर्म क्षेत्र रहा सौराष्ट्र-गुजरात। भूमिगत सीमा की दृष्टि से जैनधर्म सम्पूर्ण राष्ट्र मे फैला। देश की चप्पा-चप्पा भूमि इस धर्म की श्रद्धा और शक्ति का आधार बनी। दक्षिण भारत के श्रवणबेलगोला व कारकल आदि स्थानो पर स्थित बाहुबली के प्रतीक आज भी इस राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं।

जैन धर्म की यह सास्कृतिक एकता भूमिगत ही नही रही। भाषा और साहित्य मे भी उसने समन्वय का यह औदार्य प्रकट किया। जैनाचार्यों ने सस्कृत को ही नही अन्य सभी प्रचलित जनपदीय भाषाओ को अपना कर उन्हे समुचित सम्मान दिया। जहाँ-जहाँ भी वे गये, वहाँ-वहाँ की भाषाओ को, चाहे वे आर्य परिवार की हो, चाहे द्रविड परिवार की—अपने उपदेश और साहित्य का माध्यम बनाया। इसी उदार प्रवृत्ति के कारण मध्ययुगीन विभिन्न जनपदीय भाषाओ के मूल रूप सुरक्षित रह सके हैं। आज जब भाषा के नाम पर विवाद और मतभेद हैं, तब ऐसे समय मे जैन धर्म की यह उदार दृष्टि स्तुत्य ही नही, अनुकरणीय भी है।

साहित्यिक समन्वय की दृष्टि से तीर्थंकरो के अतिरिक्त राम और कृष्ण जैसे लोकप्रिय चरित्र नायको को जैन साहित्यकारो ने सम्मान का स्थान दिया। जो पात्र अन्यत्र घृणित और बीभत्स दृष्टि से चित्रित किये गये

हैं, वे जैन साहित्य मे उचित सम्मान के अधिकारी बने हैं। इसका कारण शायद यह रहा कि जैन साहित्यकार अनार्य भावनाओ को किसी प्रकार की ठेस नही पहुँचाना चाहते थे। यही कारण है कि वासुदेव के शत्रुओ को भी प्रति-वासुदेव का उच्च पद दिया गया है। नाग, यक्ष आदि को भी अनार्य न मान कर तीर्थंकरो का रक्षक माना है और उन्हे देवालयो मे स्थान दिया है। कथा-प्रवन्धो मे जो विभिन्न छन्द और राग-रागनियाँ प्रयुक्त हुई हैं उनकी तर्जे वैष्णव साहित्य के सामजस्य को सूचित करती हैं। कई जैनेतर सस्कृत और डिंगल ग्रथो की लोकभापाओ मे टीकाएँ लिख कर भी जैन विद्वानो ने इस सास्कृतिक विनिमय को प्रोत्साहन दिया है।

जैन धर्म अपनी समन्वय भावना के कारण ही सगुण भक्ति के झगड़े में नही पडा। गोस्वामी तुलसीदास के समय इन दोनो भक्ति धाराओ मे जो समन्वय दिखाई पडता है, उसके बीज जैन भक्तिकाव्य मे आरम्भ मे मिलते हैं। जैन दर्शन मे निराकार आत्मा (सिद्ध) और वीतराग साकार भगवान् (अरिहन्त) के स्वरूप मे एकता के दर्शन होते हैं। पच-परमेष्ठी नमस्कार महामत्र (णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूण) मे सगुण और निर्गुण भक्ति का कितना सुन्दर मेल विठाया है। अरिहन्त सकल परमात्मा सगुण, साकार हैं। सिद्ध निष्कल परमात्मा निर्गुण निराकार हैं। एक ही मगलाचरण मे इस प्रकार का समभाव अन्यत्र देखने को नही मिलता।

यह समन्वय भावना अनुपम उदारता की फलश्रुति है। नमस्कार महामत्र किसी वैयक्तिक निष्ठा का प्रतिपादक न होकर गुणनिष्ठा का जीवन्त प्रतीक है। इसमे जैनधर्म के सर्वाधिक पूजनीय, वन्दनीय, महनीय २४ तीर्थंकरो मे से किसी का नाम निर्देश नही है। व्यक्ति विशेप को नमस्कार न करके गुणो को नमन किया गया है। जो क्रोध, अहंकार आदि विकारो से मुक्त हो गये हैं उन अरिहन्तो को नमस्कार है, जिन्होंने साधना का लक्ष्य प्राप्त कर लिया है उन सिद्धो को नमस्कार है, जो शुद्ध आचार मे आदर्श हैं उन आचार्यो को नमस्कार है, जो स्वय ज्ञानी बनकर विद्या दान करने मे कुशल हैं उन उपाध्यायो को नमस्कार है और जो साधना के शुद्ध मार्ग पर गतिशील हैं, विश्व के उन सभी साधुओ को नमस्कार है।

जिसकी आत्मा सभी प्रकार के विकारो से मुक्त हो गई है जो शुद्ध, बुद्ध, निर्मल और अखण्ड आनन्दधाम है वही हमारे लिए परम आराध्य है। महान् आध्यात्मयोगी आनन्दघन ने कहा है—उस परम तत्त्व को चाहे राम के नाम से कोई सम्वोधित करे, चाहे रहमान के नाम से, चाहे कृष्ण के नाम से या महादेव के नाम से, चाहे पार्श्वनाथ के नाम से, चाहे ब्रह्मा के नाम से, किन्तु वह महा चैतन्य स्वय ब्रह्म स्वरूप ही है—

राम कहौ रहमान कहौ कोउ, कान्ह कहौ महादेव री।
पारसनाथ कहौ कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वमेव री॥

मिट्टी का रूप तो एक ही है किन्तु पात्र भेद से अनेक नाम कहे जाते हैं तथा—यह घड़ा है, यह कु डा है आदि, उसी प्रकार इस परम तत्त्व के पृथक्-पृथक् भाग कल्पना मे किये गये है, किन्तु वास्तव मे वह तो अखण्ड स्वरूप ही है—

भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पनारोपित, आप अखण्ड सरूप री॥

जो निज स्वरूप मे रमण करे उसे राम कहना चाहिए, जो प्राणी मात्र पर रहम (दया) करे उसे रहमान। जो ज्ञानावरणादि कर्मों को कृश अर्थात् नष्ट करे उसे कृष्ण कहना चाहिए और जो निर्वाण प्राप्त करे उसे महादेव। अपने आत्म स्वरूप को जो स्पर्श करे उसे पार्श्वनाथ कहना चाहिये और जो चैतन्य आत्म-शुद्ध रूप सत्ता को पहचाने, वह ब्रह्मा है। यह परम तत्त्व निष्कर्म (कर्म उपाधि से रहित), ज्ञाता, द्रष्टा और चैतन्य-मय है—

निज पद रम राम सो कहियै, रहम करै रहमान री।
करषै करम कान्ह सो कहियै, महादेव निरवाण री॥
परसे रूप सो पारस कहियै, ब्रह्म चिन्है सो ब्रह्म री।
इह विध साध्यो आप 'आनदघन', चेतनमय निष्कर्म री॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैनदर्शन मे किसी व्यक्ति, वर्ण, जाति, मत या सम्प्रदाय के लिये कोई स्थान नही है। यहाँ महत्त्व है केवल आत्म-गुणो का।

जैन कवियो ने काव्य-रूपो के क्षेत्र मे भी कई नये प्रयोग किये। उसे सकीर्ण परिधि से बाहर निकाल कर व्यापकता का मुक्त क्षेत्र दिया। साहित्यशास्त्रियो द्वारा प्रतिपादित प्रबन्ध-मुक्तक की चली आती हुई

काव्य-परम्परा को इन कवियो ने विभिन्न रूपो मे विकसित कर काव्य-शास्त्रीय जगत मे एक क्राति सी मचा दी । दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध और मुक्तक के बीच काव्य-रूपो मे कई नये स्तर इन कवियो ने निर्मित किये ।

जैन कवियो ने नवीन काव्य-रूपो के निर्माण के साथ-साथ प्रचलित काव्य-रूपो को नई भाव-भूमि और मौलिक अर्थवत्ता प्रदान की । इन सबमे उनकी व्यापक, उदार दृष्टि ही काम करती रही । उदाहरण के लिए वेलि, बाहरमासा, विवाहलो, रासो, चौपाई, सधि आदि काव्य रूपो के स्वरूप का अध्ययन किया जा सकता है । 'वेलि' सज्ञक काव्य डिंगल शैली मे सामान्यत वेलियो छद मे ही लिखा गया है पर जैन कवियो ने 'वेलि' काव्य को छन्द विशेष की सीमा से बाहर निकाल कर वस्तु और शिल्प दोनो दृष्टि से व्यापकता प्रदान की । 'बारहमासा' काव्य ऋतु काव्य रहा है जिसमे नायिका एक-एक माह के क्रम से अपना विरह, प्रकृति के विभिन्न उपादानो के माध्यम से व्यक्त करती है । जैन कवियो ने बारह मासा की इस विरह-निवेदन-प्रणाली को आध्यात्मिक रूप देकर इसे शृ गार क्षेत्र से बाहर निकालकर भक्ति और वैराग्य के क्षेत्र तक आगे बढाया । 'विवाहलो' संज्ञक काव्य मे सामान्यत नायक-नायिका के विवाह का वर्णन रहता है, जिसे 'व्याहलो' भी कहा जाता है । जैन कवियो ने इसमे नायक का किसी स्त्री से परिणय न दिखा कर सयम और दीक्षा कुमारी जैसी अमूर्त भावनाओ को परिणय के बधन मे बाधा । रासो, सधि और चौपाई जैसे काव्य रूपो को भी इसी प्रकार नया भाव-बोध दिया । 'रासो' यहाँ केवल युद्धपरक वीर काव्य का व्यजक न रह कर प्रेमपरक गेय काव्य का प्रतीक बन गया । 'सधि' शब्द अपभ्र श महाकाव्य के सर्ग का वाचक न रह कर विशिष्ट काव्य विधा का ही प्रतीक बन गया । 'चौपाई' सज्ञक काव्य चौपाई छन्द मे ही बन्धा न रहा, वह जीवन की व्यापक चित्रण क्षमता का प्रतीक बनकर छन्द की रूढ कारा से मुक्त हो गया ।

उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि जैन कवियो ने एक ओर काव्य रूपो की परम्परा के धरातल को व्यापकता दी तो दूसरी ओर उमको बहिरग से अन्तरग की ओर तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर भी खीचा ।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि जैन कवियो ने केवल पद्य के क्षेत्र मे ही नवीन काव्यरूप नही खडे किये वरन् गद्य के क्षेत्र मे भी कई नवीन काव्य-

रूपो गुर्वावली, पट्टावली, उत्पत्तिग्रथ, दफ्तरबही, ऐतिहासिक टिप्पण, ग्रथ प्रशस्ति, ववनिका, दवावैत, सिलोका, बालाववोध, बात आदि की सृष्टि की। यह सृष्टि इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण है क्योकि उसके द्वारा हिन्दी गद्य का प्राचीन ऐतिहासिक विकास स्पष्ट होता है। हिन्दी के प्राचीन ऐतिहासिक और कलात्मक गद्य मे इन काव्य रूपो की देन महत्त्व-पूर्ण है।

जैन-धर्म का लोक-संग्राहक रूप

धर्म का आविर्भाव जब कभी हुआ विषमता मे समता, अव्यवस्था मे व्यवस्था और अपूर्णता मे सम्पूर्णता स्थापित करने के लिए ही हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि इसके मूल मे वैयक्तिक अभिक्रम अवश्य रहा पर उसका लक्ष्य समष्टिमूलक हित ही रहा है, उसका चिन्तन लोक हित की भूमिका पर ही अग्रसर हुआ है।

पर सामान्यतः जब कभी जैन धर्म या श्रमण धर्म के लोक सग्राहक रूप की चर्चा चलती है तब लोग चुप्पी साध लेते है। इसका कारण शायद यह रहा है कि जैन दर्शन मे वैयक्तिक मोक्ष की बात कही गई है, सामूहिक निर्वाण की बात नही। पर जब हम जैन दर्शन का सम्पूर्ण सन्दर्भो मे अध्ययन करते है तो उसके लोक सग्राहक रूप का मूल उपादान प्राप्त हो जाता है।

लोक सग्राहक रूप का सबसे बडा प्रमाण है लोकनायको के जीवन क्रम की पवित्रता, उनके कार्य-व्यापारो की परिधि और जीवन-लक्ष्य की व्यापकता। जैन धर्म के प्राचीन ग्रथो मे ऐसे कई उल्लेख आते है कि राजा श्रावक धर्म अगीकार कर, अपनी सीमाओ मे रहते हुए, लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियो का सचालन एव प्रसारण करता है। पर काल-प्रवाह के साथ उसका चिन्तन बढता चलता है और वह देश विरति श्रावक से सर्वविरति श्रमण बन जाता है। सासारिक मायामोह, पारिवारिक प्रपच, देह-आसक्ति से विरक्त होकर वह साधु श्रमण, तपस्वी और लोक-सेवक बन जाता है। इस रूप या स्थिति को अपनाते ही उसकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक और उसका हृदय अत्यन्त उदार बन जाता है। लोक-कल्याण मे व्यवधान पैदा करने वाले सारे तत्त्व अब पीछे छूट जाते हैं और वह जिस साधना पर बढता है, उसमे न किसी के प्रति राग है न द्वेष। वह सच्चे अर्थों मे श्रमण है।

'श्रमण' के लिए शमन, समन, समण आदि शब्दो का भी प्रयोग होता है। उनके मूल मे भी लोक सग्राहक वृत्ति काम करती रही है। लोक सग्राहक वृत्ति का धारक सामान्य पुरुष हो ही नही सकता। उसे अपनी साधना से विशिष्ट गुणो को प्राप्त करना पडता है। क्रोधादि कषायो का शमन करना पडता हैं, पाँच इन्द्रियो और मन को वशवर्ती वनाना पडता है, शत्रु-मित्र तथा स्वजन-परिजन को भेद भावना को दूर हटाकर सवमे समान मन को नियोजित करना पडता है। समस्त प्राणियो के प्रति सम-भाव की धारणा करनी पडती है। तभी उसमे सच्चे श्रमण-भाव का रूप उभरने लगता है। वह विशिष्ट साधना के कारण तीर्थंकर तक बन जाता है। ये तीर्थंकर तो लोकोपदेशक ही होते हैं। ये साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चार तीर्थों की स्थापना करते हैं। इन्हे चतुर्विध सघ कहा गया है। सघ एक प्रकार का धार्मिक-सामाजिक सगठन है जो आत्म-साधना के साथ-साथ लोक-कल्याण का पथ प्रशस्त करता है। 'नन्दोसूत्र' की पीठिका मे सघ को नगर, चक्र, रथ, कमल, चन्द्र, सूर्य, समुद्र और पर्वत इन आठ उपमाओ से उपमित करते हुए नमन किया गया है। सघ ऐसा नगर है जिसमे सद्गुण और तप रूप अनेक भवन हैं, विशुद्ध श्रद्धा की सडकें हैं। ऐसा चक्र है जिसकी धुरा सयम है और सम्यक्त्व जिसकी परिधि है। ऐसा रथ है जिस पर शील की पताकाएँ फहरा रही हैं और तप-सयम रूप घोडे जुते हुए हैं। ऐसा कमल है जो सासारिकता से उत्पन्न होकर भी उससे ऊपर उठा हुआ है। ऐसा चन्द्र है जो तप-सयम रूप मृग के लाछन से युक्त होकर सम्यक्त्व रूपी चादनी से सुशोभित है। ऐसा सूर्य है जिसका ज्ञान हो प्रकाश है। ऐसा समुद्र है जो उपसर्ग और परीपह से अक्षुब्ध और धैर्य आदि गुणो से मडित-मर्यादित है। ऐसा पर्वत है जो सम्यग्दर्शन रूप वज्रपीठ पर स्थित है और शुभ भावो की सुगन्ध से आप्लावित है।

चतुर्विध सघ के प्रमुख अग 'श्रमण' को भी बारह उपमाओ से उपमित किया गया है—

> उरग गिरि जलण सागर
> णहतल तरुगण समाय जो होइ।
> भ्रमर मिय धरणि जलरुह,
> रवि पवण समाय सो समणो॥

अर्थात् श्रमण सर्प, पर्वत, अग्नि, सागर, आकाश, वृक्षपंक्ति, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य और पवन के समान होता है।

ये सब उपमाएँ साभिप्राय दी गई है। सर्प की भांति श्रमण भी अपना कोई घर (बिल) नही बनाते। पर्वत की भाँति ये परीषहो और उपसर्गों की आधी से डोलायमान नही होते। अग्नि की भाति ज्ञान रूपी इन्धन से ये तृप्त नही होते। समुद्र की भाति अथाह ज्ञान को प्राप्त कर भी ये मर्यादा का अतिक्रमण नही करते। आकाश की भाति ये स्वाश्रयी, स्वावलम्बी होते हैं, किसी के अवलम्बन पर नही टिकते। वृक्ष की भाति समभावपूर्वक दु ख-सुख को सहन करते हैं। भ्रमर की भाति किसी को बिना पीडा पहुँचाये शरीर-रक्षण के लिए आहार ग्रहण करते हैं। मृग की भाति पापकारी प्रवृत्तियो के सिंह से दूर रहते है। पृथ्वी की भाति शीत, ताप, छेदन, भेदन आदि कष्टो को समभावपूर्वक सहन करते हैं। कमल की भाँति वासना के कीचड और वैभव के जल से अलिप्त रहते है। सूर्य की भाँति स्वसाधना एव लोकोपदेशना के द्वारा अज्ञानान्धकार को नष्ट करते है। पवन की भाँति सर्वत्र अप्रतिबद्ध रूप से विचरण करते है। ऐसे श्रमणो का वैयक्तिक स्वार्थ हो ही क्या सकता है?

ये श्रमण पूर्ण अहिंसक होते हैं। षट्काय (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय) जीवो की रक्षा करते है। न किसी को मारने की प्रेरणा देते है और न जो प्राणियो का वध करते है, उनकी अनुमोदना करते हैं। इनका यह अहिंसा प्रेम अत्यन्त सूक्ष्म और गभीर होता है।

ये अहिंसा के साथ-साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के उपासक होते है। किसी की वस्तु बिना पूछे नही उठाते। कामिनी और कचन के सर्वथा त्यागी होते है। आवश्यकता से भी कम वस्तुओ की सेवना करते हैं। सग्रह करना तो इन्होने सीखा ही नही। ये मनसा, वाचा, कर्मणा किसी का वध नही करते, हथियार उठाकर किसी अत्याचारी-अन्यायी राजा का नाश नही करते। लेकिन इससे उनसे लोक सग्रही रूप मे कोई कमी नही आती। भावना की दृष्टि से तो उसमे और वैशिष्ट्य आता है। ये श्रमण पापियो को नष्ट कर उनको मौत के घाट नही उतारते वरन् उन्हे आत्मबोध और उपदेश देकर सही मार्ग पर लाते है। ये पापी को मारने मे नही, उसे सुधारने मे विश्वास करते है। यही कारण है कि

महावीर ने विषदृष्टि सर्प चण्डकौशिक को मारा नही वरन् अपने प्राणो को खतरे मे डालकर, उसे उसके आत्मविश्वास से परिचित कराया। बस फिर क्या था ? वह विष से अमृत बन गया। लोक कल्याण की यह प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म और गहरी है।

इसका लोक सग्राहक रूप मानव सम्प्रदाय तक ही सीमित नही है। ये मानव के हित के लिये अन्य प्राणियो का बलिदान करना व्यर्थ ही नही, धर्म के विरुद्ध समझते है। इनकी यह लोक-सग्रह की भावना इसीलिये जनतत्र से आगे बढ़कर प्राणतत्र तक पहुँची है। यदि अयतना से किसी जीव का वध हो जाता है या प्रमा वश किसी को कष्ट पहुँचता है तो ये उन पापो से दूर हटने के लिए प्रात-साय प्रतिक्रमण (प्रायश्चित) करते हैं। ये नगे पैर पैदल चलते है। गाव-गाव और नगर-नगर मे विचरण कर सामाजिक चेतना और सुषुप्त पुरुषार्थ को जागृत करते हैं। चातुर्मास के अलावा किसी भी स्थान पर नियत वास नही करते। अपने पास केवल इतनी वस्तुएँ रखते हैं जिन्हे ये अपने आप उठाकर भ्रमण कर सकें। भोजन के लिये गृहस्थो के यहा से भिक्षा लाते हैं। इसे गोचरी या मधुकरी कहते है। भिक्षा इतनी ही लेते हैं कि गृहस्थ को फिर अपने लिए न बनाना पडे। दूसरे समय के लिये भोजन का सचय नही करते। रात्रि मे न पानी पीते है न कुछ खाते है।

इनकी दैनिक चर्या भी बडी पवित्र होती है। दिन-रात ये स्वाध्याय मनन-चिन्तन-लेखन और प्रवचन आदि मे लगे रहते है। सामान्यतः ये प्रतिदिन ससार के प्राणियो को धर्म बोध देकर कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करते हैं। इसका समूचा जीवन लोक कल्याण मे ही लगा रहता है। इस लोक-सेवा के लिए ये किसी से कुछ नही लेते।

श्रमण धर्म की यह आचारनिष्ठ दैनन्दिनचर्या इस बात का प्रबल प्रमाण है कि ये श्रमण समूचे अर्थों मे लोक-रक्षक और लोकसेवी है। यदि आपद्काल मे अपनी मर्यादाओ से तनिक भी इधर-उधर होना पडता है तो उसके लिये ये दण्ड लेते हैं, व्रत प्रत्याख्यान करते हैं। इतना ही नही, जब कभी अपनी साधना मे कोई बाधा आती है तो उसकी निवृत्ति के लिये परीषह और उपसर्ग आदि की सेवना करते है। नही कहा जा सकता कि इससे अधिक आचरण की पवित्रता, जीवन की निर्मलता और लक्ष्य की सार्वजनीनता और किस लोक सग्राहक की होगी ?

इस ससार मे प्राणियो के लिए चार अग परम दुर्लभ कहे गये है—मनुष्यत्व, श्रुति (धर्म-श्रवण) श्रद्धा और सयम मे पुरुषार्थ। देवता जीवन-साधना के पथ पर बढ नही सकते। कर्मक्षेत्र मे बढने की शक्ति तो मानव के पास ही है। इसलिए जैन धर्म मे भाग्यवाद को स्थान नही है। वहा कर्म की ही प्रधानता है। वैदिक धर्म मे जो स्थान स्तुति-प्रार्थना और उपासना को दिया गया है, वही स्थान जैन धर्म मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चरित्र को मिला है।

श्रमण धर्म के लोक सग्राहक रूप पर कुछ लोग इस कारण प्रश्न-चिह्न लगाते प्रतीत होते हैं कि उसमे साधना का फल मुक्ति माना है—ऐसी मुक्ति जो वैयक्तिक उत्कर्ष की चरम सीमा है। बौद्ध धर्म का निर्वाण भी वैयक्तिक है। बाद मे चलकर बौद्ध धर्म की एक शाखा महायान ने सामूहिक निर्वाण की चर्चा की। पर सोचने की बात यह है कि जैन दर्शन की वैयक्तिक मुक्ति की कल्पना सामाजिकता की विरोधिनी नही है। क्योकि श्रमण धर्म ने मुक्ति पर किसी का एकाधिकार नही माना है। जो अपने आत्म-गुणो का चरम विकास कर सकता है, वह इस परम पद को प्राप्त कर सकता है और आत्मगुणो के विकास के लिए समान अवसर दिलाने के लिए जैन धर्म हमेशा सघर्षशील रहा है।

भगवान महावीर ने ईश्वर के रूप को एकाधिकार के क्षेत्र से बाहर निकाल कर समस्त प्राणियो की आत्मा मे उतारा। आवश्यकता इस बात की है कि प्राणी साधना-पथ पर बढ सके। साधना के पथ पर जो बन्धन और बाधा थी, उसे महावीर ने तोड गिराया। जिस परम पद की प्राप्ति के लिये वे साधना कर रहे थे, जिस स्थान को उन्होने अमर सुख का घर और अनन्त आनन्द का आवास माना, उसके द्वार सबके लिये खोल दिये। द्वार ही नही खोले, वहाँ तक पहुँचने का रास्ता भी बतलाया।

जैन दर्शन मे मानव-शरीर और देव-शरीर के सबध मे जो चिन्तन चला है, उससे भी लोक-सग्राहक वृत्ति का पता चलता है। परम शक्ति और परमपद की प्राप्ति के लिए साधना और पुरुषार्थ की जरूरत पडती है। यह पुरुषार्थ, कर्त्तव्य की पुकार और बलिदान की भावना मानव को ही प्राप्त है, देव को नही। देव-शरीर मे वैभव-विलास को भोगने की शक्ति तो है पर नये पुण्यो के संचय का पुरुषार्थ नही। इसलिए मानव-जीवन की प्राप्ति को दुर्लभ बताया गया है। भगवान् महावीर ने कहा है:—

चत्तारि परमगाणि, दुल्लहाणीह जतुणो ।
माणुसत्त सुई सद्धा, सजमम्मि य वीरीय ।।
—उत्तराध्ययन ३/१

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म का लोकसग्राहक रूप स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक है, वाह्य की अपेक्षा आन्तरिक अधिक है। उसमे देवता वनने के लिए जितनी तडप नही, उतनी तडप ससार को कषाय आदि पाप कर्मो से मुक्त कराने की है। इस मुक्ति के लिए वैयक्तिक अभिक्रम की उपेक्षा नही की जा सकती जो जैन साधना के लोक सग्राहक रूप की नीव है।

जैन धर्म—जीवन—सम्पूर्णता की हिमायती

सामान्यतः यह कहा जाता है कि जैन धर्म ने ससार को दु खमूलक वताकर निराशा की भावना फैलाई है, जीवन मे सयम और विराग की अधिकता पर वल देकर उसकी अनुराग भावना और कला प्रेम को कुंठित किया है। पर यह कथन साधार नही है, भ्रातिमूलक है। यह ठीक है कि जैन धर्म ने ससार को दु.खमूलक माना, पर किसलिए ? अखण्ड आनन्द की प्राप्ति के लिए, शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए। यदि जैन धर्म ससार को दु खपूर्ण मानकर ही रुक जाता, सुख-प्राप्ति की खोज नही करता, उसके लिए साधना-मार्ग की व्यवस्था नही देता तो हम उसे निराशावादी कह सकते थे, पर उसमे तो मानव को महात्मा वनाने की, नर को नारायण वनाने की, आत्मा को परमात्मा वनाने की आस्था का वीज छिपा हुआ है। दैववाद के नाम पर अपने को असहाय और निर्वल समझी जाने वाली जनता को किसने आत्म-जागृति का सन्देश दिया ? किसने उसके हृदय मे छिपे हुए पुरुषार्थ को जगाया ? किसने उसे अपने भाग्य का विधाता वनाया ? जैन धर्म की यह विचार-धारा युगो वाद आज भी बुद्धिजीवियो की धरोहर वन रही है, सस्कृति को वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान कर रही है।

यह कहना भी कि जैन धर्म निरा निवृत्तिमूलक है, ठीक नही है। जीवन के विधान पक्ष को भी उसने महत्त्व दिया है। इस धर्म के उपदेशक तीर्थंकर लौकिक-अलौकिक वैभव के प्रतीक हैं। दैहिक दृष्टि से वे अनन्त वल, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त पराक्रम के धनी होते हैं। इन्द्रादि मिलकर

उनके पचकल्याणक महोत्सवो का आयोजन करते हैं। उपदेश देने का उनका स्थान (समवसरण) कलाकृतियो से अलकृत होता है। जैन धर्म ने जो निवृत्तिमूलक बातें कही है, वे केवल उच्छृखलता और असयम को रोकने के लिये ही हैं।

जैन धर्म की कलात्मक देन अपने आप में महत्त्वपूर्ण और अलग से अध्ययन की अपेक्षा रखती है। वास्तुकला के क्षेत्र मे विशालकाय कलात्मक मदिर, मेरुपर्वत की रचना, नदीश्वर द्वीप व समवसरण की रचना मानस्तम्भ, चैत्य, स्तूप आदि उल्लेखनीय है। मूर्तिकला मे विभिन्न तीर्थंकरो की मूर्तियो को देखा जा सकता है। चित्रकला मे भित्तिचित्र, ताड़पत्रीय चित्र, काष्ठ चित्र, लिपिचित्र, वस्त्र पर चित्र आश्चर्य मे डालने वाले है। इस प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय कर जैन धर्म ने सस्कृति को लचीला बनाया है। उसकी कठोरता को कला की बाह दी है तो उसकी कोमलता को सयम की शक्ति। इसलिये वह आज भी जीती-जागती है।

आधुनिक भारत के नवनिर्माण मे योगदान

आधुनिक भारत के नवनिर्माण की सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रवृत्तियो मे जैन धर्मावलम्बियो की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अधिकाश सम्पन्न जैन श्रावक अपनी आय का एक निश्चित भाग बिना किसी भेदभाव के सर्व जनहितकारी लोकोपकारी प्रवृत्तियो मे व्यय करने के व्रती रहे हैं। जीवदया, पशुबलि निषेध, पशु क्रूरता-निवारण, विकलाग-कल्याण, स्वधर्मी वात्सल्य फड, विधवाश्रम, वृद्धाश्रम, अनाथाश्रम जैसी अनेक प्रवृत्तियो के माध्यम से असहाय लोगो को सहायता मिलती है। समाज मे निम्न और अस्पृश्य समझे जाने वाले खटीक, बलाई आदि जाति के लोगो मे प्रचलित कुव्यसनो को मिटाकर उन्हे सात्त्विक जीवन जीने की प्रेरणा देने वाले रचनात्मक कार्यक्रम अहिंसक समाज-रचना की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। लौकिक शिक्षण के साथ-साथ नैतिक शिक्षण के लिये देश के विभिन्न क्षेत्रो मे कई जैन शिक्षण सस्थाये, स्वाध्याय-सघ, छात्रावास आदि कार्यरत हैं। निर्धन और मेधावी छात्रो को अपने शिक्षण मे सहायता पहुँचाने के लिये व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर बने कई धार्मिक और परमार्थिक ट्रस्ट हैं जो छात्रवृत्तिया और ऋण देते है।

जन स्वास्थ्य के सुधार की दिशा मे भी जैनियो द्वारा विभिन्न क्षेत्रो मे कई अस्पताल, औषधालय, औषध बैंक आदि खोले गये हैं, जहा रोगियो को नि शुल्क तथा रियायती दरो पर चिकित्सा सुविधा प्रदान की जाती है। समय-समय पर नेत्र चिकित्सा, रोग-परीक्षण, रोगोपचार आदि के शिविर स्थान-स्थान पर लगाये जाते हैं जहाँ सभी प्रकार की नि शुल्क सुविधाएँ विना किसी भेदभाव के मानव मात्र को प्रदान की जाती हैं। पशु एव पक्षी चिकित्सालयो मे रुग्ण एव असहाय पशु-पक्षियो की परिचर्या की जाती है। स्थान-स्थान पर वृद्ध, असहाय एव लावारिस पशुओ के चारे-पानी आदि की व्यवस्था के लिए पिजरापोल आदि खोले गये हैं।

जैन साधु और साध्वियाँ वर्षा ऋतु के चार महिनो मे पदयात्रा नही करते। वे एक ही स्थान पर ठहरते हैं जिसे चातुर्मास करना कहते हैं। इस काल मे जैन लोग तप, त्याग, प्रत्याख्यान, सघ-यात्रा, तीर्थ-यात्रा, मुनि-दर्शन, उपवास, आयम्बिल, मासखमण, सवत्सरी, क्षमापर्व जैसे विविध उपासना-प्रकारो द्वारा आध्यात्मिक जागृति के विविध कार्यक्रम विशेष रूप से वनाते हैं। इससे व्यक्तिगत जीवन निर्मल, स्वस्थ और उदार वनता है तथा सामाजिक जीवन मे वधुत्व, मैत्री, वात्सल्य जैसे भावो की वृद्धि होती है।

अधिकांश जैन धर्मावलम्वी कृषि, वाणिज्य और उद्योग पर निर्भर हैं। देश के विभिन्न क्षेत्रो मे ये फैले हुए हैं। वगाल, विहार, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात आदि प्रदेशो मे इनके वडे-वडे उद्योग-प्रतिष्ठान हैं। अपने आर्थिक सगठनो द्वारा इन्होने राष्ट्रीय उत्पादन तो वढाया ही है, देश के लिये विदेशी मुद्रा अर्जन करने मे भी इनकी विशेष भूमिका रही है। जैन सस्कारो के कारण मर्यादा से अधिक आय का उपयोग वे सार्वजनिक स्तर के कल्याण कार्यो मे करते रहे हैं।

राजनीतिक चेतना के विकास मे भी जैनियो का सक्रिय योगदान रहा है। भामाशाह की परम्परा को निभाते हुए कइयो ने राष्ट्रीय रक्षा-कोष मे पुष्कल राशि समर्पित की है। स्वतन्त्रता से पूर्व देशी रियासतो के शासन प्रवन्ध मे कई जैन श्रावक राज्यो के प्रधान, दीवान, फौजवक्शी, किलेदार, मुसद्दी आदि महत्त्वपूर्ण पदो पर कार्य करते रहे हैं। स्वतत्रता सग्राम मे क्षेत्रीय आन्दोलन का नेतृत्व भी उन्होने सभाला है। अहिंसा, सत्याग्रह, भूमिदान, सम्पत्तिदान, भूमि सीमावदी, आयकर प्रणाली, धर्म

निरपेक्षता जैसे सिद्धान्तो और कार्यक्रमो मे जैन-दर्शन की भावधारा न्यूनाधिक रूप से प्रेरक कारण रही है।

प्राचीन साहित्य के सरक्षक के रूप मे जैन धर्म की विशेष भूमिका रही है। जैन साधुओ ने न केवल मौलिक साहित्य की सर्जना की वरन् जीर्णशीर्ण दुर्लभ ग्रथो का प्रतिलेखन कर उनकी रक्षा की और स्थान-स्थान पर ज्ञान भडारो की स्थापना कर, इस अमूल्य निधि को सुरक्षित रक्खा। ग्रथो के सरक्षण, प्रतिलेखन आदि मे इनकी दृष्टि बड़ी उदार रही। जैन ग्रथो के साथ-साथ जैनेतर ग्रथो के सरक्षण एव प्रतिलेखन का कार्य इन्होने समान आदर एव सेवा भाव से किया।

राजस्थान और गुजरात के ज्ञान भडार इस दृष्टि से राष्ट्र की अमूल्य निधि हैं। महत्त्वपूर्ण ग्रथो के प्रकाशन का कार्य भी जैन शोध संस्थानो द्वारा हुआ है। जैन पत्र-पत्रिकाओ द्वारा भी वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, और राष्ट्रीय जीवन को स्वस्थ और सदाचारयुक्त बनाने की दिशा मे बड़ी प्रेरणा और शक्ति मिलती रही है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जैन धर्म की दृष्टि राष्ट्र के सर्वांगीण विकास पर रही है। उसने मानव-जीवन की सफलता को ही मुख्य नही माना, उसका बल रहा उसकी सार्थकता और शुद्धता पर।

६
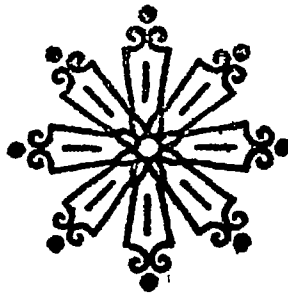
वीर भाव का स्वरूप

जैन दर्शन अहिंसा प्रधान दर्शन है। अहिंसा को न मारने तक सीमित करके लोगो ने उसे निष्क्रियता और कायरता समझने की भ्रामक कल्पनाएँ की हैं। तथाकथित आलोचको ने अहिंसा धर्म को पराधीनता के लिए जिम्मेदार भी ठहराया। महात्मा गाँधी ने वर्तमान युग मे अहिंसा की तेजस्विता को प्रकट कर यह सिद्ध कर दिया है कि अहिंसा वीरो का धर्म है, कायरो का नही। इस संदर्भ मे सोचने पर सचमुच लगता है कि अहिंसा धर्म के मूल मे वीरता का भाव रहा हुआ है।

वीर भाव का स्वरूप

काव्य-शास्त्रियो ने नव रसो की विवेचना करते हुए उसमें वीर रस को एक प्रमुख रस माना है। वीर रस का स्थायी भाव उत्तम प्राकृतिक उत्साह कहा गया है। किसी कार्य को सम्पन्न करने के हेतु हमारे मानस मे एक विशेष प्रकार की सत्वर क्रिया सजग रहती है, वही उत्साह है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उत्साह मे प्रयत्न और आनन्द की मिलीजुली वृत्ति को महत्त्व दिया है। उनके शब्दो मे—"साहसपूर्ण आनन्द की उमग का नाम उत्साह है।" मनोविज्ञान की दृष्टि से वीर भाव एक स्थायी भाव (Sentiment) है जो स्नेह, करुणा, धैर्य, गौरवानुभूति, तप, त्याग, रक्षा, आत्मविश्वास, आक्रोश, प्रभुता आदि सवेगो (Emotions) के सम्मिलित प्रभाव का प्रतिफल है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'वीर' शब्द मे मूल धातु 'वृ' है जिसका अर्थ है छाँटना, चयन करना, वरण करना, अर्थात् जो वरण करता है, वह वीर है। इसी अर्थ मे वर का अर्थ दूल्हा होता है

क्योंकि वह वधू का वरण करता है, वरण कर लेने पर ही वर वीर बनता है। इसमे श्रेष्ठता का भाव भी अनुस्यूत है। इस दृष्टि से वीर भाव एक आदर्श भाव है जिसमे श्रेष्ठ समझे जाने वाले मानवीय भावो का समुच्चय रहता है।

वीर भाव और आत्म स्वातन्त्र्य

वीर भावना के मूल मे जिस उत्साह की स्थिति है वह पुरुषार्थ प्रधान है। पुरुषार्थ की प्रधानता व्यक्ति को स्वतत्र और आत्म-निर्भर बनाती है। वह अपने सुख-दु ख, हानि-लाभ, निन्दा-प्रशंसा, जीवन-मरण आदि में किसी दूसरे पर निर्भर नही रहता। आत्म कर्तृत्व का यह भाव जैन दर्शन का मूल आधार है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, दुपट्ठिअ सुप्पट्ठिओ ॥[1]

अर्थात् आत्मा ही सुख-दु:ख देने वाली तथा उनका नाश करने वाली है। सत् प्रवृत्ति मे लगी हुई आत्मा ही मित्र रूप है जबकि दुष्प्रवृत्ति मे लगी हुई आत्मा ही शत्रु रूप है।

इस वीर भावना का आत्मस्वातत्र्य से गहरा सम्वन्ध है। जैन मान्यता के अनुसार जीव अथवा आत्मा स्वतत्र अस्तित्व वाला द्रव्य है। अपने अस्तित्व के लिए न तो यह किसी दूसरे द्रव्य पर आश्रित है और न इस पर आश्रित कोई अन्य द्रव्य है। इस दृष्टि से जीव को अपना स्वामी स्वय कहा गया है। उसकी स्वाधीनता और पराधीनता उसके स्वय के कर्मों के अधीन है। राग-द्वेष के कारण जव उसकी आत्मिक शक्तियाँ आवृत्त हो जाती है तव वह पराधीन हो जाती है। अपने सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप द्वारा जब वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मो का नाश कर देता है तब उसकी आत्म शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो जाती हैं और वह जीवन मुक्त अर्थात् अरिहंत बन जाता है। अपनी शक्तियो को प्रस्फुटित करने मे किसी की कृपा या दया कारणभूत नही बनती। स्वय उसका पुरुषार्थ या वीरत्व ही सहायक बनता है। अपने वीरत्व और पुरुषार्थ के बलपर साधक अपने कर्म-फल मे

१—उत्तराध्ययन २०/३७

परिवर्तन ला सकता है। कर्म-परिवर्तन के निम्नलिखित चार सिद्धान्त इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) उदीरणा—नियत अवधि से पहले कर्म का उदय मे आना।

(२) उद्वर्तन—कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति मे अभिवृद्धि होना।

(३) अपवर्तन—कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति मे कमी होना।

(४) संक्रमण—एक कर्म प्रकृति का दूसरी कर्म प्रकृति मे सक्रमण होना।

उक्त सिद्धान्त के आधार पर साधक अपने पुरुषार्थ के वल से वधे हुए कर्मो की अवधि को घटा-वढा सकता है और कर्मफल की शक्ति मन्द अथवा तीव्र कर सकता है। यही नही, नियत अवधि से पहले कर्म को भोगा जा सकता है और उनकी प्रकृति को वदला जा सकता है।

वीरता के प्रकार

वीर भावना का स्वातत्र्य भाव से गहरा सम्वन्ध है। वीर अपने पर किसी का नियत्रण और शासन नही चाहता। मानव सभ्यता का इतिहास स्वतत्र भावना की रक्षा के लिये लडे जाने वाले युद्धो का इतिहास है। इन युद्धो के मूल मे साम्राज्य-विस्तार, सत्ता-विस्तार, यशोलिप्सा और लौकिक समृद्धि की प्राप्ति ही मुख्य कारण रहे हैं। इन वाहरी भौतिक पदार्थो और राज्यो पर विजय प्राप्त करने वाले वीरो के लिए ही कहा गया है—'वीर भोग्या वसुन्धरा।' ये वीर शारीरिक और साम्पत्तिक वल मे अद्वितीय होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार चक्रवर्ती और वासुदेव इस क्षेत्र मे आदर्श वीर माने गये हैं। चक्रवर्ती चौदह रत्नो के धारक और छह खण्ड पृथ्वी के स्वामी होते हैं। वासुदेव भरत क्षेत्र के तीन खण्डो और सात रत्नो के स्वामी होते है। इनका अतिशय वतलाते हुए कहा गया है कि वासुदेव अतुल वली होता है। कुए के तट पर वैठे हुए वासुदेव को, जजीर से वाँधकर हाथी, घोडे, रथ और पदाति रूप चतुरगिणी सेना सहित सोलह हजार राजा भी खीचने लगे तो वे उसे नही खीच सकते। किन्तु उसी जजीर को वाँये हाथ से पकडकर वासुदेव अपनी तरफ वडी आसानी से खीच सकता है। वासुदेव का जो वल वतलाया

गया है उससे दुगुना बल चक्रवर्ती मे होता है। तीर्थंकर चक्रवर्ती से भी अधिक बलशाली होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वीरता के दो प्रकार है—एक बहिर्मुखी वीरता और दूसरी अन्तर्मुखी वीरता। बहिर्मुखी वीरता की अपनी सीमा है। जैन दर्शन मे उसके कीर्तिमान माने गये है चक्रवर्ती जो भरत क्षेत्र के छह खण्डो पर विजय प्राप्त करते है। लौकिक महाकाव्यो मे—रामायण, महाभारत, पृथ्वीराज रासो—मे बहिर्मुखी वीरो के अतिरजनापूर्ण यशोगान भरे पडे हैं। जैन साहित्य मे भी ऐसे वीरो का उल्लेख और वर्णन आता है, पर उनकी यह वीरता जीवन का ध्येय या आदर्श नही मानी गयी है। जैन इतिहास मे ऐसे सैकडो वीर राजा हो गये हैं, पर वे वन्दनीय, पूजनीय नही हैं। वे वन्दनीय पूजनीय तब बनते हैं जब उनकी बहिर्मुखी वीरता अन्तर्मुखी बनती है। इन अन्तर्मुखी वीरो मे तीर्थंकर, केवली, श्रमण, श्रमणियाँ आदि आते है। बहिर्मुखी वीरता के अन्तर्मुखी वीरता मे रूपान्तरित होने का आदर्श उदाहरण भरत-बाहुबली का है। भरत-चक्रवर्ती बाहुबली पर विजय प्राप्त करने के लिए विराट् सेना लेकर कूच करते हैं। दोनो सेनाओ मे परस्पर युद्ध होता है। अन्तत भयकर जन-सहार से बचने के लिए दोनो भाई मिलकर निर्णायिक द्वन्द्व-युद्ध करने के लिए सहमत होते हैं। दोनो मे दृष्टि-युद्ध, वाक्-युद्ध, बाहु-युद्ध होता है और इन सब मे भरत पराजित हो जाते हैं। तब भरत सोचते हैं क्या बाहुबली चक्रवर्ती है जिससे कि मैं कमजोर पड रहा हूँ? इस विचार के साथ ही वे आवेश मे आकर बाहुबली के सिरच्छेदन के लिए चक्ररत्न से उस पर वार करते हैं। बाहुबली प्रतिक्रिया स्वरूप क्रुद्ध हो चक्र को पकडने का प्रयत्न करते हुए मुष्टि उठाकर सोचते है—मुझे धर्म छोडकर भ्रातृवध का दुष्कर्म नही करना चाहिए। ऋषभ की सन्तानो की परम्परा हिंसा की नही, अपितु अहिसा की है। प्रेम ही मेरी कुल-परम्परा है। किन्तु उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाये? उन्होने विवेक से काम लिया, अपने उठे हुए हाथ को अपने ही सिर पर दे मारा और बालो का लुचन करके वे श्रमण बन गये। उन्होने ऋषभ देव के चरणो मे वही से भावपूर्वक नमन किया, कृत अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना की और उग्र तपस्या कर अह का विसर्जन कर, मुक्ति रूपी वधू का वरण किया।

भगवान् ऋषभ, अरिष्टनेमि, महावीर आदि तीर्थंकर अन्तर्मुखी

वीरता के सर्वोपरि आदर्श हैं। भगवान् महावीर के समय मे वर्ण व्यवस्था विकृत हो गयी थी। ब्राह्मणो और क्षत्रियो का आदर्श अत्यन्त सकीर्ण हो गया था। ब्राह्मण यज्ञ के नाम पर पशु-बलि को महत्त्व दे रहे थे तो क्षत्रिय देश-रक्षा के नाम पर युद्धजनित हिंसा और सत्ता लिप्सा को बढावा दे रहे थे। महावीर स्वय क्षत्रिय कुल मे पैदा हुए थे। उन्होंने क्षत्रियत्व के मूल आदर्श रक्षा-भाव को पहचाना और विचार किया कि रक्षा के नाम पर कितनी हिंसा हो रही है, पीडा-मुक्ति के नाम पर कितनी पीडा दी जा रही है। सच्चा क्षत्रियत्व दूसरे को जीतने मे नही, स्वय अपने को जीतने मे है, पर-नियत्रण नही स्व-नियत्रण ही सच्ची विजय है। उन्होने सम्पूर्ण राज्य-वैभव और शासन-सत्ता का परित्याग कर आत्म-विजय के लिए प्रयाण किया। वे सन्यस्त होकर कठोर ध्यान-साधना और उग्र तपस्या मे लीन हो गये। साढे बारह वर्षो तक वे आन्तरिक विकारो-शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने के लिये सघर्ष करते रहे। अन्तत वे आत्म-विजयी बने और अपने महावीर नाम को सार्थक किया। सच्चे क्षत्रियत्व और सच्चे वीर को परिभाषित करते हुए उन्होने कहा—"एस वीरे पससिए जे वद्धे पडिमोयए।" अर्थात् वह वीर प्रशसनीय है जो स्वय बधन-मुक्त तो है ही, दूसरो को भी बधन मुक्त करता है। वीर है वह, जो स्वय तो पूर्णत स्वतत्र है ही, दूसरो को भी स्वतत्र करता है। वीर है वह, जो दूसरो को भयभीत नही करता अपनी सत्ता से, बल्कि उनको सत्ता के भय से ही सदा के लिये मुक्त कर देता है, चाहे वह सत्ता किसी की भी हो, कैसी भी हो।

वीर का व्यवहार और मन.स्थिति

वीरता के स्वरूप पर ही वीर का व्यवहार और उसकी मनःस्थिति निर्भर है। बहिर्मुखी वीर की वृत्ति आक्रामक और दूसरो को परास्त कर पुन अपने अधीन बनाने की रहती है। दूसरो पर प्रभुत्व कायम करने और लौकिक समृद्धि प्राप्त करने की इच्छा का कोई अन्त नही। ज्यो-ज्यो इस ओर इन्द्रियाँ और मन प्रवृत्त होते हैं त्यो-त्यो इनकी लालसा बढती जाती है, हिंसा प्रति हिंसा मे बदलती है, क्रोध वैर का रूप धारण करता है और युद्ध पर युद्ध होते चलते हैं। युद्ध और सत्ता मे विश्वास करने वाला वीर प्रतिक्रियाशील होता है, क्रूर और भयकर होता है। दूसरो को दु ख, पीडा और यत्रणा देने मे उसे आनन्द आता है। बाहरी साधनो-सेना, अस्त्र-शस्त्र, राज-दरबार, राजकोष आदि को बढाने मे वह अपनी शौर्यवृत्ति का प्रदर्शन करता है। उसकी वीरता का माप-दण्ड रहता है

दूसरो को मारना न कि बचाना, दूसरो को गुलाम बनाना न कि गुलामी से मुक्त करना, दूसरो को दबाना न कि उबारना। ऐसा वीर आवेगशील होने के कारण अधीर और व्याकुल होता है। वह अपने पर किसी क्रिया के प्रभाव को झेल नही पाता और भीतर ही भीतर सतप्त और त्रस्त बना रहता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से ऐसा वीर सचमुच कायर होता है, कातर होता है, क्रोध, मान, माया और लोभ की आग मे निरतर दग्ध बना रहता है। बाहरी वैभव और विलास मे जीवित रहते हुए भी आन्तरिक चेतना और सवेदना की दृष्टि से वह मृतप्राय होता है। उसके चित्त के सस्कार कु ठित और सवेदना रहित बन जाते है।

जैन दर्शन मे बहिर्मुखी वीर-भाव को आत्मा का स्वभाव न मानकर, मन का विकार और विभाव माना है। अन्तर्मुखी वीर ही उसकी दृष्टि मे सच्चा वीर है। यह वीर बाहरी उत्तेजनाओ के प्रति प्रतिक्रियाशील नही होता। विषम परिस्थितियो के बीच भी वह प्रसन्न-चित्त बना रहता है। वह सकटो का सामना दूसरो को दबाकर नही करता। उसकी दृष्टि मे सुख-दु ख, सम्पत्ति-विपत्ति का कारण कही बाहर नही, उसके भीतर है। वह शरीर से सम्बन्धित उपसर्गों-परीषहो को समभाव-पूर्वक सहन करता है। उसके मन मे किसी के प्रति घृणा, द्वेष और प्रति-हिंसा का भाव नही होता। वह दूसरो का दमन करने के बजाय आत्म-दमन करने लगता है। यह आत्म-दमन और आत्म-सयम ही सच्चा वीरत्व है। भगवान् महावीर ने कहा है—

> अप्पाणमेव जुज्झहि, कि ते जुज्झेण बज्झओ।
> अप्पाणमेव अप्पाण, जइत्ता सुहमेहए ॥[1]

आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी दुश्मनो के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीतकर मनुष्य सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है।

जिन वीरो ने मानवीय रक्त बहाकर विजय यात्रा आरम्भ की, अन्त मे उन्हे मिला क्या ? सिकन्दर जैसे महान् योद्धा भी खाली हाथ चले गये। वस्तुतः कोई किसी का स्वामी या नाथ नही है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' के 'महानिर्ग्रन्थीय' नामक २०वें अध्ययन मे अनाथी मुनि और राजा

१—उत्तराध्ययन, ६/३५

श्रेणिक के बीच हुए वार्तालाप मे अनाथता का प्रेरक वर्णन किया गया है। राजा श्रेणिक मुनि से कहते हैं—मेरे पास हाथी, घोड़े, मनुष्य, नगर, अन्त पुर तथा पर्याप्त द्रव्यादि समृद्धि है। सब प्रकार के काम भोगो को मैं भोगता हूँ और सब पर मेरी आज्ञा चलती है, फिर मैं अनाथ कैसे? इस पर मुनि उत्तर देते हैं—सब प्रकार की बाह्य भौतिक सामग्री, मनुष्य को रोगों और दु खों से नही बचा सकती। क्षमावान और इन्द्रिय निग्रही व्यक्ति ही दुःखो और रोगो से मुक्त हो सकता है। आत्मजयी व्यक्ति ही अपना और दूसरो का नाथ है—

जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥[1]

एक पुरुष दुर्जय सग्राम मे दस लाख सुभटो पर विजय प्राप्त करता है और एक महात्मा अपनी आत्मा को जीतता है। इन दोनों मे उस महात्मा की विजय ही श्रेष्ठ विजय है।

आदर्श वीरता का उदाहरण क्षमावीर है। क्षमा पृथ्वी को भी कहते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी बाहरी हल चल और भीतरी उद्वेग को समभावपूर्वक सहन करती है, उसी प्रकार सच्चा वीर शरीर और आत्मा को अलग-अलग समझता हुआ सब प्रकार के दु खो और कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करता है। सच तो यह है कि उसकी चेतना का स्तर इतना अधिक उन्नत हो जाता है कि उसके लिए वस्तु, व्यक्ति और घटना का प्रत्यक्षीकरण ही बदल जाता है। तब उसे दु.ख, दु.ख नही लगता, सुख, सुख नहीं लगता। वह सुख-दु ख से परे अक्षय, अव्याबाध अनन्त आनन्द मे रमण करने लगता है। वह क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को सरलता से और लोभ को संतोष से जीत लेता है—

उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।
माय चज्जभावेण, लोभ सतोसओ जिणे ॥[2]

यह कषाय-विजय ही श्रेष्ठ विजय है। क्षमावीर निर्भीक और अहिंसक होता है। प्रतिशोध लेने की क्षमता होते हुए भी वह किसी से

१—उत्तराध्ययन ६/३४
२—दशवैकालिक ८/३९

प्रतिशोध नही लेता। क्षमा धारण करने से ही अहिंसा वीरो का धर्म वनती है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र के २६वे 'सम्यक्त्व पराक्रम' अध्ययन में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते है—खमावणयाए ण भते ! जीवे कि जणयइ ?

हे भगवन् ! अपने अपराध की क्षमा मागने से जीव को किन गुणो की प्राप्ति होती है ?

उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ, पल्हायण भावमुवगए य सव्वपाणभूय जीव सत्तेसु मित्तीभाव-मुप्पाएइ, मित्ती भावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण णिब्भए भवई ।।१७।।

अर्थात् क्षमा मागने से चित्त मे आह्लाद भाव का संचार होता है, अर्थात् मन प्रसन्न होता है। प्रसन्न चित्त वाला जीव सव प्राणी, भूत, जीव और सत्वो के साथ मैत्रीभाव स्थापित करता है, समस्त प्राणियो के साथ मैत्रीभाव को प्राप्त हुआ जीव अपने भावो को विशुद्ध वनाकर निर्भय हो जाता है।

निर्भीकता का यह भाव वीरता की कसौटी है। वाहरी वीरता मे शत्रु से हमेशा भय वना रहता है, उसके प्रति शासक और शासित, जीत और हार, स्वामी और सेवक का भाव रहने से मन मे संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं। इस वात का भय और आशंका वरावर वनी रहती है कि कव शासित और सेवक विद्रोह कर वैठे। जव तक यह भय वना रहता है तव तक मन वेचैनी और व्याकुलता से घिरा रहता है। पर सच्चा वीर निराकुल और निर्वैर होता है। उसे न किसी पर विजय प्राप्त करना शेष रहता है और न उस पर कोई विजय प्राप्त कर सकता है। वह सदा समताभाव—वीतरागभाव मे विचरण करता है। उसे अपनी वीरता को प्रकट करने के लिए किन्ही वाहरी साधनो का आश्रय नही लेना पड़ता। अपने तप और संयम द्वारा ही वह वीरत्व का वरण करता है।

जैनधर्म वीरों का धर्म

जैनधर्म के लिए आगम ग्रन्थो मे जो नाम आये हैं, उनमे मुख्य हैं—जिनधर्म, अर्हत् धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म और श्रमण धर्म। ये सभी नाम वीर भावना के परिचायक है। 'जिन' वह है जिसने अपने आन्तरिक विकारो

पर विजय प्राप्त करली है । 'जिन' के अनुयायी जैन कहलाते हैं । 'अर्हत्' धर्म पूर्ण योग्यता को प्राप्त करने का धर्म है । अपनी योग्यता को प्रकटाने के लिए आत्मा पर लगे हुए कर्म पुद्गलो को नष्ट करना पडता है ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना द्वारा । 'निर्ग्रन्थ' धर्म वह धर्म है जिसमे कषाय भावो से बधी गाँठो को खोलने—नष्ट करने के लिए आत्मा के क्षमा, मार्दव, आर्जव, त्याग, सयम, ब्रह्मचर्य जैसे गुणो को जागृत करना होता है । 'श्रमण' धर्म वह धर्म है जिसमे अपने ही पुरुषार्थ को जागृत कर, विषम भावो को नष्ट कर, चित्त की विकृतियो को उपशात कर समता भाव मे आना होता है ।

स्पष्ट है कि इन सभी साधनाओ की प्रक्रिया मे साधक का आन्तरिक पराक्रम ही मुख्य आधार है । आत्मा से परे किसी अन्य परोक्ष शक्ति की कृपा पर यह विजय—आत्मजय आधारित नही है । भगवान् महावीर की महावीरता बाहरी युद्धो की विजय पर नही, अपने आन्तरिक विकारो की विजय पर ही निर्भर है अत. यह वीरता युद्ध वीर की वीरता नही, क्षमावीर की वीरता है ।

७

दिक् और काल की अवधारणा

जैन दर्शन मे विश्व अनादि, अनन्त माना गया है। यहाँ सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर की प्ररूपणा नही की गयी है। विश्व के लिए जैन दर्शन मे 'लोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जो देखा जाता है वह लोक है—'जो लोक्कइ से लोए।'[1] लोक की व्याख्यात्मक परिभाषा करते हुए कहा गया है जिसमें ६ प्रकार के द्रव्य हैं, वह लोक है—

> धम्मो अधम्मो आगास, कालो पुग्गल-जन्तवो।
> एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदंसिहिं ॥[2]

इन ६ द्रव्यों के नाम है—

(१) धर्मास्तिकाय (गति-सहायक द्रव्य)
(२) अधर्मास्तिकाय (स्थिति-सहायक द्रव्य)
(३) आकाशास्तिकाय (आश्रय देने वाला द्रव्य)
(४) काल (समय)
(५) पुद्गलास्तिकाय (मूर्त जड़ पदार्थ)
(६) जीवास्तिकाय (चैतन्यशील आत्मा)

इन द्रव्यो की सह-अवस्थिति लोक है। इन ६ द्रव्यो मे से काल को छोड़कर शेष ५ द्रव्य अस्तिकाय कहे गये हैं। अस्ति का अर्थ होता है प्रदेश

१—भगवती सूत्र ५–९–२२५
२—उत्तराध्ययन सूत्र २८/७

और काय का अर्थ है राशि या समूह। अस्तिकाय का अर्थ हुआ प्रदेशो का समूह।

जैन दर्शन मे प्रदेश पारिभाषिक शब्द है। एक परमाणु जितनी जगह घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं। प्रकारान्तर से space-point प्रदेश है। जिसका दूसरा हिस्सा नही हो सकता आकाश के ऐसे निरश अवयव को प्रदेश कहते हैं। काल द्रव्य के प्रदेश नही होते। बीता समय नष्ट हो गया और भविष्य असत् है। वर्तमान क्षण ही सद्भूत काल है। मुहूर्त्त, दिन, रात, माह, वर्ष आदि विभाग असद्भूत क्षणो को बुद्धि मे एकत्र कर किये गये हैं। अत क्षण मात्र अस्तित्व होने के कारण उसे प्रदेशसमूहात्मक शब्द अस्तिकाय से सूचित नही किया गया है।

गुण और पर्यायो के आश्रय को द्रव्य कहते है। प्रत्येक द्रव्य मे दो प्रकार के धर्म रहते हैं। एक तो सहभावी धर्म जो द्रव्य मे नित्य रूप से रहता है, इसे गुण कहते हैं। गुण दो प्रकार के हैं—सामान्य गुण और विशेष गुण। सामान्य गुण वे हैं, जो किसी भी द्रव्य मे नित्य रूप से होते हैं।

प्रत्येक द्रव्य के ६ सामान्य गुण हैं—

(१) अस्तित्व—जिस गुण के कारण द्रव्य का कभी विनाश न हो।

(२) वस्तुत्व—जिस गुण के कारण द्रव्य अन्य पदार्थों के क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्बधो मे भी अपनेपन को नही छोडता।

(३) द्रव्यत्व—जिस गुण के कारण द्रव्य गुण और पर्यायो को धारण करता है।

(४) प्रमेयत्व—जिस गुण के कारण द्रव्य यथार्थ ज्ञान का विषय बन सकता है।

(५) प्रदेशत्व—जिस गुण के कारण द्रव्य के प्रदेशो का माप होता है।

(६) अगुरुलघुत्व—जिस गुण के कारण द्रव्य मे अनन्त धर्म एकीभूत होकर रहते हैं—बिखर कर अलग-अलग नही हो जाते।

विशेष गुण प्रत्येक द्रव्य के अपने-अपने होते है।

द्रव्य का दूसरा धर्म क्रमभावी धर्म है जिसे पर्याय कहते हैं। यह परिवर्तनशील होता है।

६ द्रव्यो मे से जीवास्तिकाय को छोडकर शेष ५ द्रव्य अजीव हैं और पुद्‌गल को छोडकर शेष द्रव्य अरूपी हैं। यहाँ आकाश और काल द्रव्य के सम्बन्ध मे कुछ विचार प्रकट किये जा रहे हैं।

जैन दर्शन के अनुसार आकाश स्वतन्त्र द्रव्य है। दिक् उसी का विभाग है। आकाश की परिभाषा करते हुए कहा गया है—वह द्रव्य जो अन्य सब द्रव्यो को अवगाह, आकाश स्थान अर्थात् आश्रय देता है, वह आकाश है—'अवगाह लक्खणेण आगासात्थिकाए'[1] इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं—भगवन्! आकाश तत्त्व से जीवो और अजीवो को क्या लाभ होता है? महावीर उत्तर देते है—हे गौतम! आकाशास्तिकाय जीव और अजीव द्रव्यो के लिए भाजनभूत है अर्थात् आकाश नही होता तो ये जीव कहाँ होते? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ बरतता? पुद्‌गल का रगमच कहाँ बनता? यह विश्व निराधार ही होता।

जैन दर्शन के अनुसार आकाश वास्तविक द्रव्य है अत द्रव्य मे बताये गये ६ सामान्य गुण उसमे निहित है। द्रव्य की दृष्टि से आकाश एक और अखण्ड द्रव्य है अर्थात् उसकी रचना मे सातत्य है। क्षेत्र की दृष्टि से आकाश अनन्त और असीम माना गया है। यह सर्वव्यापी है और इसके प्रदेशो की सख्या अनन्त है। काल की दृष्टि से आकाश अनादिअनन्त अर्थात् शाश्वत है। स्वरूप की दृष्टि से आकाश अमूर्त है—वर्ण, गध, रस, स्पर्श आदि गुणो से रहित है। गति रहित होने से अगतिशील है।

आकाश के दो भाग किये गये है। (१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश। आकाश का वह भाग जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्‌गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय, इन पाँच द्रव्यो को आश्रय देता है वह लोकाकाश है। शेष भाग जहाँ आकाश के अलावा अन्य कोई द्रव्य नही है, वह अलोकाकाश है। लोकाकाश के प्रदेशों की सख्या असख्यात्मक है परन्तु अलोकाकाश के प्रदेशों की सख्या अनन्त है। लोकाकाश सान्त व ससीम है जबकि अलोकाकाश अनन्त व असीम है। ससीम लोक चारो

१—भगवती सूत्र १३-४-४८१

ओर से अनन्त अलोक से घिरा हुआ है। अलोक का आकार बताते हुए कहा गया है कि वह खाली गोले मे रही हुई पोलाई के समान है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व लोकाकाश मे ही माना गया है। अलोकाकाश मे इनकी स्थिति नही मानी गयी है। इस दृष्टि से इन दोनो द्रव्यो के माध्यम से ही लोकाकाश और अलोकाकाश की विभाजन-रेखा स्पष्ट होती है। आत्मा मुक्त होने के पश्चात् ऊर्ध्वगमन करती है और धर्मास्तिकाय की सहायता से समय मात्र मे लोकाकाश की सीमा के अग्रभाग पर पहुँच कर सिद्ध शिला पर विराजमान हो जाती है और पुन लौटकर ससार-चक्र मे नही आती।

काल द्रव्य

जैन दर्शन मे काल के सम्बन्ध मे दो दृष्टियो से विचार किया गया है—नैश्चयिक काल और व्यावहारिक काल। नैश्चयिक काल का स्वरूप जैन दर्शन की मौलिक विशेषता है। इसकी विवेचना कर्म सिद्धान्त के सन्दर्भ से की गयी है। काल का मुख्य लक्षण वर्तना मानते हुए कहा गया है—'वत्तणा लक्खणो कालो।'[1] 'तत्त्वार्थ सूत्र' मे कहा है—

वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य।[2]

अर्थात् वर्तना, परिणाम, क्रिया परत्व और अपरत्व काल द्रव्य के उपकार हैं। वर्तना शब्द युच प्रत्यय पूर्वक 'वृतु' धातु से बना है। जिसका अर्थ है जो वर्तनशील हो। उत्पत्ति, अपच्युति और विद्यमानता रूप वृत्ति अर्थात् क्रिया वर्तना कहलाती है। वर्तना रूप कार्य की उत्पत्ति जिस द्रव्य का उपकार है, वही काल है।

परिणाम, परिणमन का ही रूप है। परिणमन और क्रिया सहभावी है। क्रिया मे गति आदि का समावेश होता है। गति का अर्थ है आकाश-प्रदेशो मे क्रमश स्थान परिवर्तन करना। किसी भी पदार्थ की गति मे स्थान परिवर्तन का विचार उसमे लगने वाले काल के साथ किया जाता है। परत्व और अपरत्व अर्थात् पहले होना और बाद मे होना अथवा पुराना और नया ये विचार भी काल के विना नही समझाये जा सकते।

१—उत्तराध्ययन सूत्र २८/१०

२—तत्त्वार्थ सूत्र ५/२२

ध्यान देने की बात यह है कि जैन दर्शन मे प्रत्येक द्रव्य को स्वतन्त्र माना गया है अत परिणमन मे काल को प्रेरक कारण न मानकर सहकारी निमित्त उदासीन कारण माना गया है। जिस प्रकार द्रव्यो की गति व स्थिति रूप क्रिया मे धर्मास्तिकाय एव अधर्मास्तिकाय उपादान व प्रेरक निमित्त कारण न होकर उदासीन व सहकारी निमित्त कारण है व द्रव्य अपनी ही योग्यता से गति व स्थिति रूप क्रिया करते हैं, उसी प्रकार पदार्थों के परिणमन मे काल, उदासीन सहकारी निमित्त कारण है। इसके निमित्त से पदार्थ मे प्रति क्षण नव निर्माण व विध्वंस सतत होता रहता है। निर्माण व विध्वस की यही क्रिया घटनाओ को जन्म देती है। इस प्रकार काल ही पदार्थों के समस्त परिणमनो, क्रियाओ व घटनाओ का सहकारी कारण है। दूसरे शब्दो मे काल पदार्थों के परिणमन, क्रियाशीलता व घटनाओ के निर्माण मे भाग लेता है।

आधुनिक विज्ञान भी जैन दर्शन मे कथित उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करता है यथा—आइन्स्टीन ने देश और काल से उनकी तटस्थता छीन ली है और यह सिद्ध कर दिखाया है कि ये भी घटनाओ मे भाग लेते है तथा प्रसिद्ध वैज्ञानिक जिन्स का कथन है कि "हमारे दृश्य जगत् की सारी क्रियाएँ मात्र फोटोन और द्रव्य अथवा भूत की क्रियाएँ हैं तथा इन क्रियाओ का एक मात्र मच देश और काल है। इसी देश और काल ने दीवार वन कर हमे घेर रखा है।" अतः यह फलित होता है कि जैन दर्शन मे वर्णित यह तथ्य कि परिणमन और क्रिया काल के उपकार हैं, विज्ञान जगत मे मान्य हो गया है।

काल के परत्व-अपरत्व लक्षण को कुछ आचार्यों ने व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, क्षेत्र आदि के दो माध्यम स्थापित कर उनके सापेक्ष मे समझाने का प्रयास किया है परन्तु विचारणीय यह है कि जब काल के वर्तना, परिणाम और क्रिया लक्षण स्वय उसी पदार्थ मे प्रकट होते हैं तो परत्व-अपरत्व लक्षण भी उसी पदार्थ मे प्रकट होने चाहिये। इनके लिये भी एक सापेक्ष्य की आवश्यकता नही होनी चाहिये। इस विषय पर विस्तारपूर्वक लिखना प्रस्तुत लेख का विषय नही है। लगता ऐसा है कि उस समय के व्याख्याकार आचार्यो के समक्ष कोई ऐसा उदाहरण या विधि विद्यमान नही थी, जिससे वे काल के परिणाम-क्रिया आदि अन्य लक्षणो के समान परत्व-अपरत्व को भी स्वय पदार्थ मे ही प्रमाणित कर सकते। विज्ञान जगत् मे भी इसे आज भी केवल गणित के जटिल समीकरणो से

ही समझा जा सकता है, व्यावहारिक प्रयोगो द्वारा नही। पदार्थ की आयु की दीर्घता का अल्पता मे, अल्पता का दीर्घता में परिणत हो जाना परत्व-अपरत्व है। दूसरे शब्दो मे पदार्थ की अपनी ही आयु का विस्तार और सकुचन परत्व-अपरत्व है।

विश्व मे चोटी के वैज्ञानिक, आइन्स्टीन व लोरन्टन ने समीकरणो से सिद्ध किया है कि गति तारतम्य से पदार्थ की आयु मे सकोच-विस्तार होता है।

उदाहरण के लिये एक नक्षत्र को लें जो पृथ्वी से ४० प्रकाश वर्ष दूर है अर्थात् पृथ्वी से वहाँ तक प्रकाश जाने मे ४० वर्ष लगते हैं। यहाँ से वहाँ तक पहुँचने के लिये यदि एक राकेट २४,००००० किलोमीटर प्रति सैकिण्ड की गति से चले तो साधारण गणित की दृष्टि से उसे ५० वर्ष लगेंगे। कारण कि प्रकाश की गति प्रति सैकिण्ड ३०,००००० किलोमीटर है। अत $\frac{३०,००००/४०}{२४,००००}$ = ५० वर्ष लगे। परन्तु फिटजगेराल्ड के सकुचन के नियमो के अनुसार काल मे सकुचन हो जायेगा और यह सकोच १० ६ के अनुपात मे होगा अर्थात् ६० × ५०/१० = ३० वर्ष लगेंगे। इससे यह फलित होता है कि काल पदार्थ के परिणमन व क्रिया को प्रभावित करता हुआ उसकी आयु पर भी प्रभाव डालता है। पदार्थ की आयु की दीर्घता-अल्पता, पौर्वापर्दों मे काल भाग लेता है। इस प्रकार जैन दर्शन मे प्रतिपादित काल के परत्व-अपरत्व लक्षण को आधुनिक विज्ञान गणित के समीकरणो से स्वीकार करता है। तात्पर्य यह है कि जैन दर्शन मे वर्णित काल के वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व एव अपरत्व लक्षणो को वर्तमान विज्ञान सत्य प्रमाणित करता है।

काल के स्वरूप के विपय मे श्वेताम्वर और दिगम्वर आचार्यो मे कुछ मान्यता भेद भी है। श्वेताम्वर परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है तथा जीव और अजीव की पर्याय है यथा.—किमय भते! कालोति पव्वुच्चई? गोयमा! जीवा चेव अजीवा चेव। तथा अन्यत्र ६ द्रव्यो को गिनाते समय 'अद्धासमय' रूप मे काल द्रव्य को स्वतत्र द्रव्य माना है। दिगम्वर परम्परा मे काल को स्पप्ट, वास्तविक व मूल द्रव्य माना है। यथा —

लोगागासपदे से एक्के एक्के एक्के जेहिया हु ऐक्केक्के ।
ग्यणाण ससीइव ते कालाणु असख दव्वणि ।५८८।।
एगपदेशो अणुस्सहते ।५८५।।
लोगपदेसप्पमा कालो ।५८७।।

—गोम्मटसार, जीवकाण्ड

अर्थात् काल के अणु रत्न राशि के समान लोकाकाश के एक-एक प्रदेश मे एक-एक स्थित हैं । पुद्गल द्रव्य का एक अणु एक ही प्रदेश मे रहता है । लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही काल द्रव्य हैं ।

दोनो ही परम्पराओ द्वारा प्रतिपादित काल विपयक विवेचन मे जो मतभेद दिखाई देता है, वह अपेक्षाकृत ही है । वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व काल के लक्षण भी हैं और पदार्थ की पर्याये भी हैं और यह नियम है कि पर्यायें पदार्थ रूप ही होती हैं, पदार्थ से भिन्न नही । अत. इस दृष्टि से काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर औपचारिक द्रव्य मानना ही उचित है ।

कालाणु भिन्न-भिन्न हैं । प्रत्येक पदार्थ परमाणु व वस्तु से कालाणु आयाम रूप से सपृक्त है तथा पदार्थ की पर्याय-परिवर्तन मे अर्थात् परिणमन व घटनाओ के निर्माण मे सहकारी निमित्त कार्य के रूप मे भाग लेता है । यह नियम है कि निमित्त उपादान से भिन्न होता है । अतः इस दृष्टि से काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानना उचित ही है ।

उपर्युक्त दोनो परम्पराओं की मान्यताओ के समन्वय से यह फलितार्थ निकलता है कि काल एक स्वतन्त्र सत्तावान द्रव्य है । प्रत्येक पदार्थ से सपृक्त है । पदार्थ मे की क्रियामात्र मे उसका योग है । आधुनिक विज्ञान भी काल के विषय मे इन्ही तथ्यो को प्रतिपादित करता है । इस शताब्दी के महान् वैज्ञानिक आइन्सटीन ने सिद्ध किया है कि "देश और काल मिलकर एक हैं" और वे चार डायमेशनो (लम्वाई, चौडाई, मोटाई व काल) मे अपना काम करते हैं । विश्व के चतुरायाम गहरण मे दिक्काल की स्वाभाविक अतिव्याप्ति से गुजरने के प्रयत्न लाघव का फल ही मध्याकर्षण होता है । देश और काल परस्पर स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं । रिमैन की ज्योतिमिति और आइन्सटीन के सापेक्ष्यवाद ने जिस विश्व की कल्पना को जन्म दिया है, उसमे देश और काल परस्पर संपृक्त है । दो

सयोगो (इवेन्टस) के बीच का अन्तराल (इन्टरवल) ही भौतिक पदार्थ की रचना करने वाले तत्त्वाशो का सम्बन्ध सिद्ध करता है। जिसे देश और काल के तत्त्वो से अन्वित या विश्लिष्ट कर समझा जा सकता है।

वैज्ञानिको द्वारा प्रतिपादित काल विषयक उपर्युक्त उद्धरणो और जैन दर्शन मे प्रतिपादित काल के स्वरूप मे आश्चर्यजनक समानता तो है ही साथ ही इनमें आया हुआ दिक् विषयक वर्णन जैन दर्शन मे वर्णित आकाश द्रव्य के स्वरूप को भी पुष्ट करता है।

व्यावहारिक काल

ठाणाग सूत्र (४/१३४) मे काल के ४ प्रकार बताये गये है.— प्रमाण काल, यथायुनिवृत्ति काल, मरण काल और अद्धा-काल। काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं, इसलिए उसे प्रमाण काल कहा जाता है। जीवन और मृत्यु भी काल-सापेक्ष हैं, इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायुनिवृत्ति काल और उसके अन्त को मरण-काल कहा जाता है। सूर्य-चन्द्र आदि की गति से सम्बन्ध रखने वाला अद्धा-काल कहलाता है। काल का प्रधान रूप अद्धा काल ही है। शेष तीनो इसी के विशिष्ट रूप हैं। अद्धाकाल व्यावहारिक काल है। यह मनुष्य लोक मे ही होता है। इसी-लिए मनुष्य लोक को 'समय-क्षेत्र' कहा गया है। समय-क्षेत्र मे वलयाकार से एक दूसरे को परिवेष्ठित करने वाले असख्य द्वीप समुद्र हैं। इनमे जम्बू द्वीप, लवण समुद्र, धातकी खण्ड, कालोदधि समुद्र और अर्द्ध पुष्कर द्वीप ये पाँच तिर्यग लोक के मध्य मे स्थित हैं। निश्चय काल जीव अजीव का पर्याय है। वह लोक-अलोक व्यापी है। उसके विभाग नही होते, पर अद्धाकाल सूर्य-चन्द्र आदि की गति से सम्बन्धित होने के कारण विभाजित किया जाता है। इसका सर्वसूक्ष्म भाग 'समय' कहलाता है। आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे परमाणु गमन करता है, इतने काल का नाम 'समय' है। समय अविभाज्य है। इसकी प्ररूपणा वस्त्र फाडने की प्रक्रिया द्वारा की जाती है।

एक दर्जी किसी जीर्णशीर्ण वस्त्र को एक ही बार मे एक हाथ प्रमाण फाड डालता है। उसके फाडने मे जितना काल व्यतीत होता है उसमे असख्यात समय व्यतीत हो जाते हैं। क्योंकि वस्त्र तन्तुओ का बना है। प्रत्येक तन्तु मे अनेक रुएँ होते हैं। उनमे भी ऊपर का रुआँ पहले छिदता

है, तब कही उसके नीचे का रुआँ छिदता है। अनन्त परमाणुओ के मिलन का नाम सघात है। अनन्त सघातो का एक समुदय और अनन्त समुदयो की एक समिति होती है। ऐसी अनन्त समितियो के सगठन से तन्तु के ऊपर का एक रुआँ बनता है। इन सबका छेदन क्रमशः होता है। तन्तु के पहले रुएँ के छेदन मे जितना समय लगता है उसका अत्यन्त सूक्ष्म अश यानी असख्यात काल-भाग समय कहलाता है।

समय से लेकर एक पूर्व तक के सख्यात कालमान को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है[1]—

अविभाज्य काल	एक समय (एक सैकिड के ५७००वे भाग से भी कम)
असख्यात समय	एक आवलिका (सबसे छोटी आयु)
२५६ आवलिका	एक क्षुल्लक भव
१७ क्षुल्लक भव अथवा ३७७३ आवलिका	एक उच्छ्वास
१७ क्षुल्लक भव अथवा ३७७३ आवलिका	एक निश्वास
एक उच्छ्वासनिश्वास अथवा ७५४६ आवलिका	एक प्राण (पाणु)
७ प्राण	एक स्तोक (थोक)
७ स्तोक	एक लव
३८ १/२ लव	एक घडी (२४ मिनट)
७७ लव या ३७७३ श्वासोच्छ्वास	एक मुहूर्त्त (४८ मिनट) या १६७७७२१६ आवलिका
३० मुहूर्त	एक अहोरात्रि
१५ अहोरात्रि	एक पक्ष
२ पक्ष	एक मास

१—भगवती सूत्र शतक ६, उ० ७, सूत्र ४

२ मास	एक ऋतु
३ ऋतु	एक श्रयन
२ श्रयन	एक वर्ष
५ वर्ष	एक युग
८४ लाख वर्ष	एक पूर्वांग
८४ लाख पूर्वांग	एक पूर्व

समय का इतना सूक्ष्म परिमाण साधारणत' बुद्धि ग्राह्य नही है और न व्यवहार मे इसका श्रकन ही सम्भव है। अत एक कल्पना मात्र लगता है, परन्तु वर्तमान मे विज्ञान ने समय नापने के लिए जिन आणविक घडियो का आविष्कार किया है, उससे अनुमान लगाना सम्भव हो गया है, यथाः—

१९६४ मे श्राणविक कालमान का प्रयोग प्रारम्भ हुश्रा। श्रव एक सैकिण्ड की लम्वाई की व्यवस्था एक सीसियम श्रणु के ९, १९, २६, ३१, ७७० स्पदनो के लिये आवश्यक श्रन्तर्काल के रूप मे की गई है। श्राणविक घडी द्वारा समय का निर्धारण इतनी बारीकी और विशुद्धता से किया जा सकता है कि उससे त्रुटि की सम्भावना ३० हजार वर्षों मे एक सैकिण्ड से भी कम होगी। वैज्ञानिक आजकल हाइड्रोजन घडी विकसित कर रहे हैं जिसकी शुद्धता मे त्रुटि की सम्भावना ३ करोड वर्षों के भीतर एक सैकिण्ड से भी कम होगी।

इस प्रकार श्राज विज्ञान जगत् मे प्रयुक्त होने वाली श्राणविक घडी सैकिण्ड के नौ श्ररव उन्नीस करोड छब्बीस लाख इकत्तीस हजार सात सौ सत्तरवे भाग तक का समय सही प्रकट करती है। भौतिक तत्त्वो से निर्मित घडी ही जव एक सैकिण्ड का दस श्ररववा भाग तक सही नापने मे समर्थ है श्रौर भविष्य मे इससे भी सूक्ष्म समय नापने वाली घडियो के निर्माण की सम्भावना है श्रत एक श्रावलिका मे असख्यात समय होता है, अव इसमे श्राश्चर्य जैसी कोई वात नही रह गई है।

समय की सूक्ष्मता का कुछ अनुमान गति व लम्वाई के उदाहरण से भी लगाया जा सकता है। लम्वाई का प्रतिमान मीटर है परन्तु सन् १९६० मे लम्वाई के प्रतिमान मीटर का स्थान क्रिप्टन—८६ नामक दुर्लभ गैस से

निकलने वाली नारगी रग के प्रकाश के तरंग-आयामो की निर्दिष्ट सख्याओ ने ले लिया है। अत. अब एक मीटर, क्रिप्टन के १६५०,७६३ ७३ तरग आयामो के बराबर होता है। प्रकाश किरण की गति एक सैकिण्ड मे ३,००००० किलोमीटर है। एक किलोमीटर मे १००० मीटर होते हैं अत. प्रकाश किरण एक सैकिण्ड मे ३००००० × १००० × १६५०७७३ ७३= ४९५२२९११९०००००००० क्रिप्टन आयामो के बराबर चलता है। अत उसे एक आयाम को पार करने मे लगभग एक सैकिण्ड का दसवाँ भाग लगता है और टेलीपैथी विशेषज्ञो का कथन है कि मन की तरगो की गति प्रकाश की गति से कितना ही गुना अधिक है। अत. मन की तरग को क्रिप्टन के एक आयाम को पार करने मे तो शखवे भाग से भी कितने ही गुना अधिक कम समय लगता है। इस प्रकार एक सैकिण्ड मे असख्यात समय होते है, यह कथन वैज्ञानिक दृष्टि से भी युक्तियुक्त प्रमाणित होता है।

समय की सूक्ष्मता का कुछ अनुमान व्यावहारिक उदाहरण टेलीफोन से लगाया जा सकता है। कल्पना कीजिये कि आप दो हजार मील दूर बैठे हुए किसी व्यक्ति से टेलीफोन से बात कर रहे है। आपकी ध्वनि विद्युत तरगो मे परिणत हो तार के सहारे चल कर दूरस्थ व्यक्ति तक पहुचती है और उसकी ध्वनि आप तक। इसमे जो समय लगा, वह इतना कम है कि आपको उसका अनुभव तक नही हो रहा है और ऐसा लगता है मानो कुछ भी समय न लगा हो और आप उस व्यक्ति से समक्ष ही बैठे बातचीत कर रहे हो। चार हजार मील तार को पार करने मे तरग को लगा समय भले ही आपको प्रतीत न हो रहा हो फिर भी समय तो लगा ही है। कारण तरग वहाँ एक दम ही नही पहुँची है वल्कि एक-एक मीटर और एक-एक मिलीमीटर को पार करने मे जितना समय लगा, उसकी सूक्ष्मता का अनुमान लगाइये। आप चाहे अनुमान लगा सके या न लगा सकें, परन्तु तरग को एक मिलीमीटर तार पार करने मे समय तो लगा ही है। जैन दर्शन मे वर्णित समय इससे भी असख्यात गुना अधिक सूक्ष्म है।

'समय' नापने की विधि मे भी जैन दर्शन व विज्ञान जगत् मे आश्चर्यजनक समानता है। दोनो ही गति क्रिया रूप स्पदन के माध्यम से समय का परिमाण निश्चित करते हैं, यथा—

अवरा पज्जायदिदि खणमेत्तं होदि तं च समओति ।
दोण्हमणूणमदिक्कमकाल पमाणु हवे सो दु ।५७२।।[1]

सर्व द्रव्यो के पर्याय की जघन्य स्थिति ठहरने का समय एक क्षण मात्र होता है, इसी को 'समय' कहते हैं। दो परमाणुओ को अतिक्रमण करने के काल का जितना प्रमाण है, उसको समय कहते हैं अथवा आकाश के एक प्रदेश पर स्थित एक परमाणु मंदगति द्वारा समीप के प्रदेश पर जितने काल मे प्राप्त हो, उतने काल को एक समय कहते हैं।

असख्यात कालमानो की गणना उपमा के द्वारा की गयी है। इसके मुख्य दो भेद हैं—पल्योपम व सागरोपम। वेलनाकार खड्डे या कुए को पल्य कहा जाता है। एक चार कोस लम्बे, चौडे व गहरे कुए मे नवजात यौगलिक शिशु के केशों को जो मनुष्य के केश के २४०१ हिस्से जितने सूक्ष्म हैं, असख्य खण्ड कर ठूस-ठूस कर भरा जाये। प्रति १०० वर्ष के अन्तर से एक-एक केश खण्ड निकालते-निकालते जितने काल मे वह कुआ खाली हो, उतने काल को एक पल्य कहा गया है। दस क्रोडाक्रोड (एक करोड को एक करोड से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है, उसे क्रोडाक्रोड कहा गया है) पल्योपम को एक सागरोपम व २० क्रोडाक्रोडी सागर को एक कालचक्र तथा अनन्त काल चक्र को एक पुद्गल परावर्तन कहते हैं।

समा काल के विभाग को कहते हैं तथा 'सु' और 'दु' उपसर्ग समा के साथ लगने से समा के दो रूप हो जाते हैं—सुसमा और दुसमा। स का ख या ष होने से सुखमा और दुखमा हो जाते हैं। सुखमा का अर्थ है अच्छा काल और दुखमा का अर्थ है बुरा काल। काल को सर्प से उपमित किया गया है। सर्प का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है गति। काल की गति के विकास और ह्रास को ध्यान मे रखकर काल के दो भेद किये गये हैं - उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी। जिस काल मे आयु, शरीर, वल आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाय वह उत्सर्पिणी और जिस काल मे आयु, शरीर, वल आदि की उत्तरोत्तर हानि होती जाय, वह अवसर्पिणी काल है। उत्सर्पिणी काल चक्रार्द्ध मे समय क्षेत्र की प्रकृतिजन्य सभी प्रतिक्रियाएँ क्रमश निर्माण और विकास की ओर अग्रसर होती हुई प्रगति की चरम सीमा को प्राप्त होती हैं। उसके वाद अवसर्पिणी काल चक्रार्द्ध के प्रारम्भ होने पर प्रकृति-

---

१—गोम्मटसार, जीवकाण्ड

जन्य सभी प्रक्रियाएँ पुन: ध्वस और ह्रास की ओर चलती है और अन्त मे विनाश की चरम सीमा को छूती है।

प्रत्येक काल चक्रार्द्ध के ६ खण्ड होते हैं जिन्हे 'आरा' कहते है। कालचक्र के आरो के नाम और कालावधि इस प्रकार है—

उत्सर्पिणी काल		अवसर्पिणी काल	
नाम	अवधि	नाम	अवधि
१ दुखमदुखमा	२१,००० वर्ष	१ सुखमसुखमा	४ क्रोडाक्रोड सागरोपम
२ दुखमा	२१,००० वर्ष	२ सुखमा	३ क्रो सा.
३. दुखमसुखमा	१ क्रोडाक्रोड सागरोपम-४२,००० वर्ष	३ सुखम दुखमा	२ क्रो सा.
४. सुखमदुखमा	२ क्रो. सा	४ दुखमसुखमा	१ क्रो सा ४२,००० वर्ष
५. सुखमा	३ क्रो. सा	५. दुखमा	२१,००० वर्ष
६ सुखमसुखमा	४ क्रो. सा.	६ दुखमदुखमा	२१,००० वर्ष

वर्तमान मे जो आरा चल रहा है वह अवसर्पिणी काल का ५वा आरा 'दुखमा' है। इस आरे का प्रारम्भ भगवान् महावीर के निर्वाण के ३ वर्ष ८½ मास पश्चात् हुआ था। भगवान् महावीर का निर्वाण ईसा पूर्व ५२७ में हुआ था। अत· ईस्वी पूर्व ५२४ से ५वे आरे का प्रारम्भ होता है। ईस्वी सन् २०४७६ मे इस आरे का अन्त होगा और छट्ठे आरे का आरम्भ होगा। छट्ठे आरे के प्रारम्भ मे होने वाली स्थिति का विस्तृत विवरण 'भगवती सूत्र' व 'जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति' मे मिलता है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

उस समय दु.ख से लोगो मे हाहाकार होगा। अत्यन्त कठोर स्पर्श वाला मलिन, धूलि-युक्त पवन चलेगा। वह दु:सह व भय उत्पन्न करने वाला होगा। वर्तुलाकार वायु चलेगी, जिससे धूलि आदि एकत्रित होगी। पुन -पुन· उड़ने से दशो दिशाएँ रज सहित हो जाएगी। धूलि से मलिन

अन्धकार समूह के हो जाने से प्रकाश का आविर्भाव वहुत कठिनता से होगा। समय की रूक्षता से चन्द्रमा अधिक शीत होगा और सूर्य भी अधिक तपेगा। उस क्षेत्र मे वार-वार वहुत अरस, विरस मेघ, क्षार मेघ, विद्युन्मेघ, अमनोज्ञ मेघ, प्रचण्ड वायु वाले मेघ वरसेंगे। .उस समय भूमि अग्निभूत, मुर्मरभूत, भस्मभूत हो जाएगी। पृथ्वी पर चलने वाले जीवो को वहुत कष्ट होगा। उस क्षेत्र के मनुष्य विकृत वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाले होगे तथा वे ऊँट की तरह वक्र चाल चलने वाले, शरीर के विषम सन्धि-कन्ध को धारण करने वाले, ऊँची-नीची विषम पसलियो तथा हड्डियो वाले और कुरूप होगे। उत्कृष्ट एक हाथ की अवगाहना (ऊँचाई) और २० वर्ष की आयु होगी। वडी-वडी नदियो का विस्तार रथ मार्ग जितना होगा। नदियो मे पानी वहुत थोडा रहेगा। मनुष्य भी केवल वीज रूप ही वचेंगे। वे उन नदियो के किनारे विलो मे रहेगे। सूर्योदय से एक मुहूर्त्त पहले और सूर्यास्त से एक मुहूर्त्त पश्चात् विलो से वाहर निकलेंगे और मत्स्य आदि को उष्ण रेती मे पकाकर खायेंगे।

छट्ठे आरे के अन्त होने पर यह ह्रास अपनी चरम सीमा पर पहुँचेगा। इसके वाद पुन उत्सर्पिणी काल-चक्रार्द्ध प्रारम्भ होगा जिससे प्रकृति का वातावरण पुन सुधरने लगेगा। शुद्ध हवाये चलेंगी। स्निग्ध मेघ वरसेंगे और अनुकूल तापमान होगा। सृष्टि वढेगी। गाव व नगरो का पुन निर्माण होगा। यह क्रमिक विकास उत्सर्पिणी के अन्त काल मे अपनी चरम सीमा पर पहुँचेगा। इस प्रकार एक काल-चक्र सम्पन्न होता है।

जैन मान्यता के अनुसार अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे 'सुखमा-दुखमा' के समाप्त होने मे ८४,००,००० पूर्व, तीन वर्ष व साढे आठ महीने शेप रहने पर अन्तिम कुलकर से प्रथम तीर्थङ्कर का जन्म होता है। प्रथम तीर्थङ्कर के समय ही प्रथम चक्रवर्ती का भी जन्म होता है। चौथे आरे 'दुखमा सुखमा' मे २३ तीर्थङ्कर, ११ चक्रवर्ती, ९ वलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव जन्म लेते हैं। इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे 'दुखमा-सुखमा' के तीन वर्ष और साढे आठ महीने व्यतीत होने पर प्रथम तीर्थङ्कर का जन्म होता है। इस आरे मे २३ तीर्थङ्कर, ११ चक्रवर्ती ९ वलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव होते हैं। चौथे आरे 'सुखमा-दुखमा' के ८४ लाख पूर्व, तीन वर्ष साढे आठ महीने वाद २४वे तीर्थङ्कर मोक्ष चले जाते है और १२वें चक्रवर्ती की आयु पूर्ण हो जाती है।

इस प्रकार १० क्रोडाक्रडी सागरोपम का अवसर्पिणीकाल व १० क्रोडाक्रोडी सागरोपम का उत्सर्पिणी काल मिल कर एक कालचक्र बनता है। समय क्षेत्र मे यह कालचक्र अनादि से घूम रहा है और अनन्त काल तक घूमता रहेगा।

जैसा कि प्रारम्भ मे सकेत किया गया था, जैन दर्शन मे काल का चिन्तन मुख्यतया कर्मबन्ध और उससे मुक्ति की प्रक्रिया को लेकर चला है। योग और कषाय के निमित्त से जीव के साथ कर्म पुद्गलो का बन्ध होता है। कर्म बन्ध की मन्दता और तीव्रता के आधार पर चित्त वृत्तियो मे उत्थान-पतन का क्रम चलता है। चित्त वृत्तियो का यह उतार-चढाव क्रमिक रूप से होता रहता है, अत वृत्तियो के उत्थान-पतन के क्रम को 'समय' कहा जा सकता है। इसी अर्थ मे सम्भवतः जैन दर्शन मे 'समय' शब्द आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। कषायो की आवृत्ति को 'आवलिका' के रूप मे भी समझा जा सकता है। योग और कषाय के वशवर्ती होकर जीव अनन्त ससार मे भ्रमण करता रहता है। विषय-वासना के गुणनफल की स्थिति को असख्यात और अनन्त नाम देना समीचीन हो सकता है। योग की प्रवृत्ति को असख्यात और चित्त की प्रवृत्ति को अनन्त कहा जा सकता है। जीव के गुणस्थान के क्रम-विकास के सन्दर्भ में कालमानो के विविध रूपो का अध्ययन और अनुसधान किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।
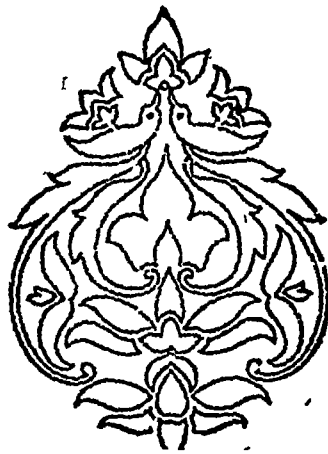
८

वर्तमान युग की समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन

वर्तमान युग बौद्धिक कोलाहल और तर्कजाल का युग है। वह श्रद्धा और आस्था के आधार पर टिके हुये शाश्वत आदर्शों को महत्त्व न देकर उन मूल्यो तथा तथ्यों को महत्त्व देता है जो प्रयोग और परीक्षण की कसौटी पर खरे उतरते हैं। वह अतीतजीवी विश्वासो और अनागत आदर्श कल्पनाओ मे न विचर कर, वर्तमान जीवन की कठोरताओ और विद्रूपताओ से संघर्ष करने मे अपने पुरुषार्थ का जौहर दिखाता है। वह इन्द्रियों और मन द्वारा प्रत्यक्षीकृत सत्य तथा भौतिक जगत् की स्थिति व अवगाहना मे विश्वास करता है। त्रिकालवाही सत्यनिरूपण, परलोक सम्बन्धी रहस्यात्मकता व ईश्वरवादिता को नकारता है। समग्रत कहा जा सकता है कि वर्तमान युग भौतिक विज्ञान का युग है। उसकी दृष्टि मे धर्म और आध्यात्मिकता का विशेष महत्त्व नही है।

धर्म और विज्ञान का सघर्ष

गहराई से सोचने पर पता चलता है कि वर्तमान वैज्ञानिक चिंतन मे धर्म को नकारने की जो प्रवृत्ति बढी, उसके मूल मे धर्मसाधना के इर्द-गिर्द ईश्वर और परलोक ये दो तत्त्व मुख्य रूप से रहे हैं। विज्ञान का चिन्तन ईश्वर जैसी किसी ऐसी अलौकिक शक्ति मे विश्वास नही करता जो व्यक्ति के सुख-दु ख की नियामक हो और न ऐसे छायालोक मे विश्वास करता है जो इस पृथ्वी लोक से परे अनत सुखो की क्रीडा भूमि है। दूसरे शब्दो मे विज्ञान यह स्वीकार नही करता कि मानव को कोई दूसरी शक्ति

सुखी या दु खी बनाती है और चू कि तथाकथित धार्मिक परम्पराएं मनुष्य के सुख-दु ख के लिये स्वय मनुष्य को नही, वरन् ईश्वर नाम की किसी अन्य शक्ति को उत्तरदायी ठहराती रही हैं इसलिये विज्ञान ने धर्म का विरोध करना शुरू किया। मध्ययुग के उत्तरवर्तीकाल मे धर्म और विज्ञान का यह सघर्ष उग्र बनकर प्रकट हुआ। कठोरहृदयी धार्मिको द्वारा कई वैज्ञानिक मौत के घाट उतार दिये गये और धर्म की आड मे सम्प्रदायवाद, स्वार्थवाद का बेरहमी से पोषण होने लगा। फलत' धर्म कल्याण का साधन न रहकर शोपण का वाहक बन गया जिसके खिलाफ सबसे उग्र जिहाद छेडा कार्ल मार्क्स ने। उसने धर्म को एक प्रकार का नशा—अफीम कहा।

धर्म और विज्ञान की पूरकता

जब हमारे देश मे जन जागरण की लहर उठी तब देश की साँस्कृतिक थाती का पुनर्मूल्याकन होने लगा। धर्मशास्त्रो मे निहित तथ्यो और आदर्शों की समसामयिक सन्दर्भों मे व्याख्या होने लगी। धार्मिक परम्पराओ को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे देखा-परखा जाने लगा। जर्मनी के प्राच्यविद्या विशारदो की दृष्टि भारत की इस मूल्यवान धार्मिक सास्कृतिक, आध्यात्मिक निधि की ओर गई। मैक्समूलर और हरमन जैकोबी जैसे विद्वानो के नाम इस दिशा मे विशेष उल्लेखनीय है। जब भारतीय दर्शन, विशेषकर जैन दर्शन से विद्वानो का सम्पर्क हुआ और उन्होने अपने अध्ययन से यह जाना कि ईश्वर और परलोक को परे रख-कर भी धर्म-साधना का चितन और अभ्यास किया जा सकता है तो उन्हे धार्मिक सिद्धान्त तथ्यपूर्ण लगे। जैन दर्शन की इस मान्यता मे उनकी विशेष दिलचस्पी पैदा हुई कि ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता नही है। षट्द्रव्यो के मेल से सृष्टि की रचना स्वतः होती चलती है। यह एक गतिशील प्रक्रिया है। इस दृष्टि से सृष्टि का न आदि है न अन्त। यह अनादि अनन्त है। इसी प्रकार जीव को सुख-दुःख कोई परोक्ष सत्ता नही देती। सुख-दु ख मिलते है जीव के द्वारा किये गये अपने कर्मों से। दुष्प्रवृत्त आत्मा जीव की शत्रु है और सद्प्रवृत्त आत्मा जीव की मित्र है।[1] जीव

---

१. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, दुपट्ठि अ सुपट्ठिओ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र २०/३७

किसी अन्य शक्ति अथवा ईश्वर पर निर्भर नही है । वह निर्भर है स्वकृत कर्मों पर । इस प्रकार जैन दर्शन मे आत्मनिर्भरता पर सर्वाधिक बल दिया गया है । सृष्टि-रचना और ईश्वरत्व के रूप मे अपने पुरुषार्थ-पराक्रम के बल पर मानव चेतना के चरम विकास (चेतना के ऊर्ध्वीकरण) के सिद्धान्त ने धर्म और विज्ञान के अन्तर को कम कर दिया । अब विचारक इस दिशा मे सोचने लगे है कि धर्म और विज्ञान एक दूसरे के विरोधी नही वरन् पूरक है । दोनो की पद्धति और प्रक्रिया मे अन्तर होते हुये भी दोनो का उद्देश्य कल्याण है, मगल है ।

धर्म का सच्चा स्वरूप

आज का बुद्धिजीवी धर्म का नाम लेते ही चौकने लगता है क्योकि धर्म का जो ऐतिहासिक स्वरूप उसके सामने रखा गया है, वह सम्प्रदाय-वाद, जातिवाद और बाह्य आडम्बरो से युक्त है । धर्म के साथ जो धारणा बद्धमूल है वह अतीत और भविष्य की है । उसमे वर्तमान जीवन का स्पन्दन न होकर अतीत का गौरव और अनागत का स्वप्न-सुख है । जीवन-सघर्ष से पलायन का भाव है । प्रवृत्ति की उपेक्षा और निवृत्ति का प्राधान्य है । देवो-देवताओ का प्राबल्य और मानव-पुरुषार्थ के प्रति हेय भाव है । धर्म के इस स्वरूप को भला कौन बुद्धिशील स्वीकार करेगा ? भगवान् महावीर, गौतम बुद्ध और अन्य क्रान्तिपुरुषो ने धर्म के नाम पर प्रचलित ढोग और विकृतियो का खुलकर विरोध किया और अपने चिन्तन व अनुभव से धर्म के स्वरूप को सही रूप मे प्रस्तुत किया । वह स्वरूप आज भी एक मान्य आदर्श है ।

भगवान् महावीर ने धर्म को किसी मत या सम्प्रदाय से न जोडकर मनुष्य की वृत्तियो से जोडा और क्षमा, सरलता, विनम्रता, सत्य, निर्लो-भता, त्याग, सयम, तप, ब्रह्मचर्य आदि की परिपालना को धर्म कहा । जो व्यक्ति धर्म के इस रूप की साधना करता है वह देवता से भी महान् है । वह देवता को नमन नही करता वरन् देवता उसे नमन करते हैं—

धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिसा सजमो तवो ।
देवावि त नमसन्ति, जस्स धम्मे सयामणो ।।[1]

---

[1] दशवैकालिक १/१

इस प्रकार महावीर ने धर्म की साधना के केन्द्र मे मनुष्य को प्रतिष्ठित किया। मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनी विकृतियो पर विजय प्राप्त कर अपनी चेतना का सर्वोपरि विकास कर सकता है। मनुष्य की विकृतियाँ हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हे कषाय कहा गया है। इन कषायो के मूल मे इच्छा की प्रधानता है। इच्छा या काम भावना कषायों मे रूपान्तरित होती रहती है जिससे चेतना का विकास सम्भव नही हो पाता और ज्ञान, दर्शन, चारित्र व सुख की शक्तियाँ दबी पडी रहती है। साधक अपनी साधना द्वारा इच्छा पर नियन्त्रण कर आत्म-अनुशासन द्वारा अपनी आत्मशक्तियो को पूर्ण रूप से जागृत और विकसित कर सकता है। चेतना की इस पूर्ण विकसित अवस्था को मोक्ष या मुक्ति कहा गया है। यही वास्तविक स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रता की प्राप्ति मे मनुष्य किसी अलौकिक सत्ता या शक्ति पर निर्भर नही है। वह इस अवस्था को प्राप्त करने मे सक्षम और स्वतन्त्र है। जैन दर्शन मे इस प्रक्रिया को ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की सम्यक् आराधना द्वारा आत्मा के साथ लगे हुये कर्मों को क्षय करने की साधना कहा है।

कर्मों को क्षय करने की यह साधना पद्धति किसी की बपौती नही है। यह सब के लिये खुली है। किसी भी जाति, वर्ण, मत, सम्प्रदाय, लिंग, देश, काल का व्यक्ति इस साधना द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है। इसीलिये महावीर ने अपनी विचारधारा या मत का नाम अपने नाम पर नही रखा। उन्होने अपने विचार को आर्हत्, निर्ग्रन्थ, श्रमण और जिन कहा। 'आर्हत्' का अर्थ है जिसने अपनी साधना द्वारा आत्म-शक्तियो का विकास कर पूर्ण योग्यता प्राप्त कर ली है। सभी प्रकार की विकृतियो—आन्तरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्त करली है। 'निर्ग्रन्थ' का अर्थ है—जिसके मन मे कोइ गाठ नही है, जिसने कषाय रूपी विकारो की गाठ का उन्मूलन-उच्छेदन कर लिया है। जो गाठ रहित, कुंठा रहित, निर्द्वन्द्व हो गया है। 'श्रमण' शब्द मे निहित श्रम के तीन रूप है—श्रम, सम, शम। 'श्रम' का अर्थ है—पुरुषार्थ अर्थात् श्रमण वह है जो अपनी साधना मे पुरुषार्थशील है, किसी पर निर्भर नही है, आत्मनिर्भर है। 'सम' का अर्थ है—समभाव-समता अर्थात् जिसकी दृष्टि मे किसी के प्रति रागद्वेष की भावना नही है। जो प्राणिमात्र को समता भाव से देखता है, जो सुख-दुःख मे, हानि-लाभ मे, जीवन-मरण मे समभाव रखता है। 'शम' का अर्थ है—शान्त, स्वनियन्त्रण अर्थात् जिसने अपनी

उत्तेजनाओ को उपशात कर लिया है, जो सुख-दु:ख मे उत्तेजित नही होता, उनके प्रति प्रतिक्रिया नही करता, जो प्रशात बना रहता है। 'जिन' का अर्थ है—विजेता। वाहरी वस्तु या प्रदेश का विजेता नही, वरन् आत्म विजेता। जिसने राग और द्वेष को जीत लिया है, वह है 'जिन' और उसके अनुयायी, उपासक है 'जैन'। इस प्रकार जैन धर्म किसी सम्प्रदाय, वर्ण, या वर्ग विशेप का धर्म न होकर आत्मनिर्भरता, पुरुषार्थ और विकृतियो पर विजय या नियन्त्रण प्राप्त करने का धर्म है। सक्षेप मे अपने पुरुषार्थ द्वारा आत्म से परमात्म वनने का धर्म है—जैन धर्म।

आज के चिन्तन मे सिक्यूलेरिज्म (secularism) के जो तत्त्व उभरे है वे जैन धर्म के विचार से पर्याप्त मेल खाते हैं। सिक्युलेरिज्म का हिन्दी मे अनुवाद धर्म-निरपेक्षता किया गया है, जो भ्रामक है। धर्म-निरपेक्षता का अर्थ होता है—धर्म के प्रति उदासीन रहना, उससे अपना सम्वन्ध न जोडना, धर्म से विमुख या रहित होना जवकि सिक्युलेरिज्म की भावना है सभी धर्मों के प्रति आदर और सम्मान, धर्म के नाम पर किसी को ऊँचा-नीचा न समझना। दूसरे शब्दो मे सम्प्रदायातीत होना। भगवान् महावीर ने धर्म की जो व्याख्या की है वह सम्प्रदायातीत व्याख्या है। इस दृष्टि से उनका धर्मचिंतन, सार्वजनीन, सर्वजनोपयोगी और सर्वोदयी है।

भगवान् महावीर ने धर्म के दो भेद किये हैं—अनगार धर्म अर्थात् मुनि धर्म और आगार धर्म अर्थात् गृहस्थ धर्म। मुनिधर्म वह धर्म है जिसमे साधक तीन करण, तीन योग से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह का आजीवन त्याग करता है, अर्थात् मुनि इन पापकर्मों को मन-वचन और काया से न करता है न दूसरो से करवाता है और न जो करते है उनकी अनुमोदना करता है। वह पच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह) धारी होता है। गृहस्थ धर्म वह धर्म है जिसमे साधक महाव्रतो की वजाय अणुव्रतो को धारण करता है। वह अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार स्थूल रूप से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करता है। वह सकल्पपूर्वक हिंसा न करने की प्रतिज्ञा लेता है। गृहस्थ धर्म की आगे की सीढी है—मुनि धर्म। गृहस्थ धर्म के नियम अर्थात् वारह व्रत एक प्रकार से किसी भी देश के आदर्श नागरिक की आचार सहिता है।

भगवान् महावीर ने अपने सघ मे दोनो प्रकार के धर्मानुयायियो को सम्मिलित किया। उन्होने अपनी क्रान्तिकारी विचारधारा द्वारा धर्म की आड़ मे यज्ञो मे दी जाने वाली पशुबलि का सख्त विरोध किया और कहा—"सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ।[1] अर्थात् सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता। उन्होंने शूद्रो और स्त्रियो को भी सब प्रकार के धार्मिक अधिकार दिये और अपने सघ मे उन्हे दीक्षित किया। दास प्रथा के खिलाफ उन्होने जिहाद छेडा। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को देखकर वे पसीज उठे और उन्होने कठोर अभिग्रह धारण कर, दासी बनी हुई राजकुमारी चन्दना के हाथो लबी तपस्या के बाद प्रथम बार आहार ग्रहण कर उसे सम्मानित किया। बौद्धिक कोलाहल के उस युग मे उन्होने अनेकान्तवाद के रूप मे सत्य को परखने और समझने का नया रास्ता बताकर सब प्रकार के विवादो को शान्त करने मे पहल की। बढती हुई भोगवृत्ति और सचयवृत्ति को उन्होने दुःख का कारण बताते हुए इच्छाओ को सीमित करने का उपदेश दिया और कहा कि आसक्ति ही परिग्रह का मूल है। उन्होने जातिवाद पर तीव्र प्रहार किया और कहा कि जन्म से कोई ऊँचा-नीचा नही होता। व्यक्ति को ऊँचा-नीचा बनाते है उसके कर्म—

कम्मुणा बभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥[2]

ब्राह्मण कुल मे जन्म लेकर चाण्डाल जैसे कर्म करने वाला कभी ब्राह्मण नही हो सकता और शूद्र कुल मे जन्मा हुआ पुरुष ब्राह्मण जैसे कार्य करके ब्राह्मण हो सकता है। महावीर ने मानवीय मूल्यो और आत्मिक सद्गुणो को महत्त्व देते हुए कहा—

समयाए समणो होई, बभचेरेण बभणो।
णाणेण य मुणि होई, तवेण होई तावसो ॥[3]

अर्थात् समताभाव धारण करने से कोई श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण होता है, ज्ञान की आराधना करने से मुनि होता है और तपस्या करने से तपस्वी होता है।

---

१ दशवैकालिक ६/१०

२ उत्तराध्ययन २५/३३

३ उत्तराध्ययन २५/३२

भगवान् महावीर ने धर्म का जो स्वरूप प्रतिपादित किया वह ढाई हजार वर्षों के वाद आज भी उपयोगी और प्रासगिक लगता है। महावीर के वाद सभ्यता का रथ तेजी से आगे वढा है। हिंसा, चोरी, झूठ, असयम और परिग्रह की समस्या पहले से कही अधिक जटिल और सूक्ष्म वनी है। मानव-शोपण के नये-नये तरीके आविष्कृत हुये हैं, जीवन अधिक अशात, सत्रस्त और कुठित वना है। वहिर्जगत की अन्धदौड और भौतिक उपकरणो की प्रगति ने अधिक भय और असुरक्षा का भाव पैदा किया है। परिणामत हृदय छोटा और कमजोर वन गया है। समय और स्थान की दूरी पर विजय पाकर भी मनुष्य अपने आपसी सम्वन्धो मे पहले से अधिक दूरी और तनाव महसूस करने लगा है। आज उसके चारो ओर विभिन्न प्रकार की समस्याएँ मुँह वाये खडी हैं। विभिन्न आर्थिक और राजनैतिक चिन्तको ने जो विचार दिये है, उससे लौकिक समृद्धि का क्षितिज तो विस्तृत हुआ है पर आत्मिक शाति सिकुड गयी है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य को शात, सुखी और सतुष्ट वनाने की दिशा अव भी कही दिखाई दे सकती है तो महावीर के विचार-चिन्तन मे। इस दृष्टि से वर्तमान युग की समस्याओ पर यहा विचार करना अप्रासगिक न होगा।

वर्तमान युग की प्रमुख समस्याएँ और जैन दर्शन

वर्तमान युग की प्रमुख समस्याओ को निम्नलिखित रूपो मे देखा जा सकता है—

१. युद्ध और हिंसा की समस्या

ससार दो विश्व महायुद्धो का विनाश देख चुका है। तीसरे महायुद्ध की तलवार क्षणप्रतिक्षण मानवता के सिर पर लटकी हुई अनुभूत होती है। इसका कारण है साम्राज्य-विस्तार की भावना, पूजी की लालसा और यशोलिप्सा। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अधिकार कर अपना आर्थिक और राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। इसीलिये अस्त्र-शस्त्रो की होड लगी हुई है। भगवान् महावीर के समय मे धर्म के नाम पर जो हिंसा होती थी, वह अव अर्थ-सग्रह के नाम पर अधिक उग्र वनकर सामने आ रही है। आणविक और रासायनिक परीक्षणो के नाम पर निरीह पशु-पक्षियो की हिंसा के दृश्य रोगटे खडा कर देने वाले हैं। सौन्दर्य-प्रसाधनो के नाम पर खरगोश, ह्वेल मछली, सिवेट, भेड,

मेमना, मृग आदि की हिसा के क्रूर प्रसग दिल को दहलाने वाले है। तीव्र औद्योगिकरण से आर्थिक विपमता बढने के साथ-साथ प्रदूषण की विकट समस्या खडी हो गई है जो सम्पूर्ण मानवता के विनाश का कारण बन सकती है। प्रदूषण से हिंसा का खतरा भी अधिक बढ गया है। कारखानो से निकलने वाली विषैली गैसो, विषाक्त एव हानिकर तरल पदार्थों के कारण जल-प्रदूषण एव वायु प्रदूषण इतना अधिक हुआ है कि समुद्र की लाखो मछलियाँ नष्ट हो गयी है। और मानव-स्वास्थ्य के लिये गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया है। अणु परीक्षण की रेडियोधर्मिता और कीटाणु-नाशक दवाइयो के प्रयोग से थल प्रदूषण की समस्या भी उभर कर सामने आ रही है निरन्तर चलने वाले शीतयुद्धो की लहर ने मनुष्य को भयभीत और असुरक्षित बना दिया है।

बढती हुई क्रूरता, युद्ध की आशका और हिंसा से बचने का एक ही रास्ता है और वह है अहिंसा का। भगवान् महावीर ने अपने अनुभव से कहा—

सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला अप्पियवहा ।
पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीविय पिय ॥[1]

अर्थात् सभी जीवो को अपना आयुष्य प्रिय है। सुख अनुकूल है, दु ख प्रतिकूल है। वध सभी को अप्रिय लगता है और जीना सबको प्रिय लगता है। प्राणीमात्र जीवित रहने की कामना वाले हैं। इस प्रकार महावीर ने पशु-पक्षी, कीट-पतगे, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि मे भी जीवन देखा और उनके प्रति अहिंसक भाव, दयाभाव, रक्षाभाव, बनाये रखने का उपदेश दिया। महावीर ने बाहरी विजय के स्थान पर आतरिक विजय, आत्मविजय, इन्द्रियनिग्रह को महत्त्व दिया। उन्होने ऐसे कार्य-व्यापार और उद्योग-धन्धे करने का निषेध किया जिनमे अधिक हिंसा होती हो। ऐसे कार्यों की सख्या शास्त्रो मे १५ गिनाई गयी है और इन्हे 'कर्मादान' कहा गया है। उदाहरण के लिये 'जगल को जलाना (इगालकम्मे), शराब आदि मादक पदार्थों का व्यापार करना (रस वाणिज्जे), अफीम, सखिया आदि मादक पदार्थों को बेचना (विस-वाणिज्जे), सुन्दर केश वाली स्त्री का क्रय-विक्रय करना (केशवाणिज्जे), वनदहन करना (दवग्गिदावणियाकम्मे) असयती अर्थात् असामाजिक

१ आचाराग २/२/३

तत्त्वो का पोषण करना (असईजणपोसणियाकम्मे) आदि कार्यों को इसमे लिया जा सकता है।

वर्तमान युग मे युद्ध और हिंसा का एक प्रमुख कारण वैचारिक सघर्ष है। इसके समाधान के लिये भगवान् महावीर ने वैचारिक सहिष्णुता के रूप मे अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का उपदेश दिया। उन्होने कहा—जगत् मे जीव अनन्त है और उनमे आत्मगत समानता होते हुए भी सस्कार, कर्म और बाह्य परिस्थितियो आदि अनेक कारणो से उनके विचारो मे विभिन्नता होना स्वाभाविक है। अलग-अलग जीवो की बात छोडिये, एक ही मनुष्य मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अलग-अलग विचार उत्पन्न होते रहते हैं। इस विचारगत विषमता मे समता स्थापित करने की दृष्टि से महावीर ने कहा—"प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। द्रव्य मे उत्पाद और व्यय होने वाली अवस्थाओ को पर्याय कहा गया है। गुण कभी नष्ट नही होते और न अपने स्वभाव को बदलते है, किन्तु पर्यायो के द्वारा अवस्था से अवस्थान्तर होते हुये सदैव स्थिर बने रहते हैं। ऐसी स्थिति मे किसी वस्तु की एक अवस्था को देखकर उसे ही सत्य मान लेना और उस पर अडे रहना हठवादिता या दुराग्रह है। एकान्त दृष्टि से किसी वस्तु विशेष का समग्र ज्ञान नही किया जा सकता। सापेक्ष दृष्टि से, अपेक्षा विशेष से देखने पर ही उसका सही व सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के आधार पर भगवान् महावीर ने जीव, अजीव, लोक, द्रव्य आदि की नित्यता-अनित्यता, द्वैत-अद्वैत, अस्तित्व-नास्तित्व जैसी विकट दार्शनिक पहेलियो को सरलतापूर्वक सुलझाया।

महावीर ने स्पष्ट कहा कि प्रत्येक जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व है, इसलिये उसकी स्वतन्त्र विचार चेतना भी है। अत जैसा तुम सोचते हो, एक मात्र वही सत्य नही है। दूसरे जो सोचते है उसमे भी सत्य का अश निहित है। अतः पूर्ण सत्य का साक्षात्कार करने के लिये इतर लोगो के सोचे हुये, अनुभव किये हुये, सत्याशो को भी महत्त्व दो। उनको समझो, परखो और उसके आलोक मे अपने सत्य का परीक्षण करो। इससे न केवल तुम्हे उस सत्य का साक्षात्कार होगा वरन् अपनी भूलो के प्रति सुधार करने का अवसर भी मिलेगा। इस दृष्टिकोण से वर्तमान युग की पूजीवादी-साम्यवादी, जनतत्रवादी-अधिनायकवादी, व्यक्तिवादी-समाजवादी विचारधाराओ को

समझकर उनमे समन्वय स्थापित किया जाकर आत्यतिक विरोध मिटाया जा सकता है ।

२. अभाव और विघटन की समस्या

युद्ध और हिंसा का परिणाम है विषमता और विघटन । ससार मे आज दो तरह के लोग हैं । एक जिनका पूजी और सत्ता पर अधिकार है । दूसरे वे जो गरीबी और दासता का जीवन बिता रहे है । एक ओर वे लोग है जिनके पास अपार वैभव और भौतिक सम्पदा है, आवश्यकता से अधिक इतना सग्रह है कि वह उनके स्वय के जीवन के लिये नही वरन् आने वाली कई पीढियो के लिये पर्याप्त है । दूसरी ओर वे लोग है जिनके पास दो जून खाने को रोटी नही, अपने शरीर को ढकने के लिये मोटा कपडा नही, और रहने के लिये टूटी-फूटी झोपडी नही । इस विषम स्थिति से निपटने के लिये समाजवादी-साम्यवादी बडी-बडी योजनाएँ बनाई जाती हैं । वैज्ञानिक उपकरणो का प्रयोग किया जाता है । औद्योगिक उत्पादनो मे तीव्रता लायी जाती है । पर फिर भी अभाव वैसा का वैसा बना रहता हे । इसका मुख्य कारण है कृत्रिम अभाव का पैदा होना । वास्तविक अभाव की स्थिति को तो उत्पादन की प्रक्रिया तेज करके, जनसख्या को नियन्त्रित करके मिटाया जा सकता है पर अर्थलोभ के कारण, अधिकाधिक लाभ प्राप्ति के कारण बाजार मे जो कृत्रिम अभाव पैदा किया जाता है उसका समाधान राजनैतिक व्यवस्था से सभव नही । इसका उपचार व्यक्ति के स्वभाव और दृष्टिकोण को बदलने मे निहित है ।

भगवान् महावीर ने इसका समाधान बताते हुए कहा—इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं ।[1] इच्छाओ की पूर्ति करने मे सुख नही है । सुख है इच्छाओ को छोडने मे । इच्छाओ को छोडना आवश्यकताओ को कम करने पर निर्भर है । इसलिये उन्होने गृहस्थो को उपदेश दिया कि अपनी आवश्यकताओ को सीमित करो । आवश्यकताएँ सीमित होने से अधिक लाभ प्राप्त करने और पूँजी केन्द्रित करने की भावना न रहेगी । सद्गृहस्थ निश्चय करे कि वह इतने पदार्थों से अधिक की इच्छा नही करेगा । न इनकी प्राप्ति के लिये अमुक दिशाओ के अतिरिक्त अन्यत्र

---

१ इच्छा हु आगास समा अणतिया—उत्तराध्ययन ९/४८

आयेगा-जायेगा। इस प्रकार इच्छा-नियमो और आवश्यकताओ के परि-सीमन से उपभोग पर स्वैच्छिक नियन्त्रण लगेगा जिससे वस्तु का अना-वश्यक सग्रह नही होगा। महावीर के इच्छा-परिमाण और परिग्रह-परिमाण की भावना आज के आयकर, सम्पत्ति कर, भूमि और भवन कर, मृत्युकर आदि से मेल खाती है। भगवान् महावीर ने आवश्यकताओ को सीमित करने के साथ-साथ जो आवश्यकताएँ शेष रहती है उनकी पूर्ति के लिये आजीविका की शुद्धि पर विशेप वल दिया।

युद्ध, हिसा और अभाव के परिणामस्वरूप आज चारो ओर घुटन और विघटन का वातावरण वना हुआ है। व्यक्ति, परिवार और समाज परस्पर सघर्परत है। सहभागिता, सहयोग और प्रेम का अभाव है। नफरत, ईर्ष्या और अविश्वास की भावना से न व्यक्तित्व का निर्माण हो पा रहा है न सामाजिक सगठन वन पा रहा है। इस स्थिति से निपटने के लिये भगवान् महावीर ने आत्मधर्म के समानान्तर ही ग्रामधर्म, नगर-धर्म, राष्ट्रधर्म, सघधर्म की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उनकी सम्यक्-परिपालना पर वल दिया और कहा—सेवाधर्म महान् धर्म है। जो दु खी, असहाय और पीड़ित है उनकी सेवा करना अपनी आत्म शक्तियो को जाग्रत करने के वरावर है। सेवा को तप कहा गया है जिससे कर्मों की निर्जरा होती है। दूसरो को भोजन, स्थान, वस्त्र आदि देना, उनके प्रति मन से शुभ प्रवृत्ति करना, वाणी से हित वचन वोलना और शरीर से शुभ कार्य करना तथा समाजसेवियो व लोकसेवको का आदर सत्कार करना पुण्य है। सेवाव्रती को किसी प्रकार का अहम् न छू पाये और वह सत्ता-लिप्सु न वन जाये, इस वात की सतर्कता पदपद पर वरतनी जरूरी है। लोक सेवा के नाम पर अपना स्वार्थ साधने वालो को महावीर ने इस प्रकार चेतावनी दी है—

असविभागी असगहरुई अप्पमाणभोई ।
से तारिसए नाराहए वयमिण ।।

अर्थात् जो असविभागी जीवन साधनो पर व्यक्तिगत स्वामित्व की सत्ता स्थापित कर, दूसरो के प्रकृति प्रदत्त सविभाग को नकारता है, असग्रहरुचि—जो अपने लिये ही सग्रह करके रखता है जो दूसरो के लिये कुछ भी नही रखता, अप्रमाणभोजी-मर्यादा से अधिक भोजन एव जीवन साधनो का स्वय उपभोग करता है वह आराधक नही, विराधक है।

३. अन्याय और अत्याचार की समस्या

अभाव और विघटन की तरह आज अन्याय और अत्याचार की समस्या भी उग्र बनी हुई है। इस समस्या के मूल मे भी अधिकाधिक अर्थलाभ प्राप्त करने व अपने अह को तुष्ट करने की भावना मुख्य है। 'जीवन सघर्ष मे जो योग्यतम है वही जीवित रहता है' यह भावना अन्याय और अत्याचार को बढावा देती है। भगवान् महावीर ने सघर्ष को नही, सहयोग को जीवन का मूल आधार माना और कहा—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" अर्थात् परस्पर उपकार करते हुए जीना ही वास्तविक जीवन है। जब यह समझ आ जाती है तब समाज मे अन्याय और अत्याचार मिट जाते है। पर आज इस समझ की बडी कमी है। जब व्यक्ति अपने अधिकार का अतिक्रमण करता है तब अन्याय की शुरुआत होती है। अन्याय के मुख्य दो प्रकार है—व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के प्रति अन्याय और शासन द्वारा व्यक्ति के प्रति अन्याय। महावीर ने दोनो के खिलाफ जिहाद छेडा। शासन के अन्याय को मिटाने के लिये कई राज्य क्रान्तियाँ हुई पर फिर भी अन्याय मिटा नही क्योकि अन्याय की मूल जड व्यक्ति के चितन मे है। जब तक चितन नही बदलता, अन्याय नही रुकता। जब हमारे मन मे यह भाव पैदा होता है कि जैसे हम स्वतन्त्र है, वैसे दूसरे भी स्वतन्त्र है, जैसे हम सुख से रहना चाहते है वैसे दूसरे भी सुख से रहना चाहते है तब अहिसा, आत्मीयता और मैत्री का भाव पैदा होता है।

भगवान् महावीर ने अन्याय को रोकने के लिये जो नियम बनाए वे उनके समय की अपेक्षा आज अधिक उपयोगी और प्रभावी प्रतीत होते है। उन्होने कहा—अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये व्यक्ति को सकलपपूर्वक की जाने वाली हिंसा से बचना चाहिये। उसे ऐसे नियम नही बनाने चाहिये जो अन्याय युक्त हो, न ऐसी सामाजिक रूढियो के बधन स्वीकार करने चाहिये जिनसे गरीबो का अहित हो। अइभार (अतिभार) अतिचार इस बात पर बल देता है कि अपने अधिनस्थ कर्मचारियो से निश्चित समय से अधिक काम न लिया जाय। न पशुओ, मजदूरो आदि पर अधिक बोझा लादा जाय। व्यक्ति अपना व्यापार इस प्रकार करे कि उससे किसी का भोजन व पानी न छीना जाय।

सत्याणुव्रत मे सत्य के रक्षण और असत्य के बचाव पर बल दिया गया है। कहा गया है कि व्यक्ति झूठी साक्षी न दे, झूठे लेख, झूठे दस्तावेज

न लिखे, झूठे समाचार और विज्ञापन प्रकाशित न करावे और न झूठे हिसाब आदि रखे। अस्तेय व्रत की परिपालना का आजीविका की शुद्धता की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। आज चोरी के साधन स्थूल से सूक्ष्म बनते जा रहे हैं। सेंध लगाने, डाका डालने, ठगने और जेब काटने वाले ही चोर नही है बल्कि खाद्य वस्तुओ मे मिलावट करने वाले, एक वस्तु बताकर दूसरी लेने-देने वाले, कम तोलने व कम नापने वाले, चोरो द्वारा ली हुई वस्तु खरीदने वाले, चोरो को चोरी करने की प्रेरणा देने वाले, झूठा जमा-खर्च करने वाले, अधिक सूद पर रुपया देने वाले भी चोर हैं। इन सूक्ष्म तरीको की चौर्यवृत्ति के कारण आज अन्याय और अत्याचार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है। सामान्यजन शोषण के चक्र के नीचे पिसता जा रहा है। अर्थ व्यवस्था के असतुलन से उत्पन्न अन्याय और अत्याचार को रोकने के लिये भगवान् महावीर ने अर्जन के विसर्जन और शुद्ध साधनो पर जो बल दिया है, उसकी आज के युग मे विशेष महत्ता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वर्तमान युग युद्ध, हिंसा, अभाव, विघटन, अन्याय और अत्याचार जैसी जटिल समस्याओ से ग्रस्त है। आज व्यक्ति तनावो मे जी रहा है। आत्मघात और आत्महत्याओ के आकडे दिल दहलाने वाले हैं। इन समस्याओ से बचाव तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति का दृष्टिकोण आत्मोन्मुखी बने। तभी उसमे आत्म-विश्वास, स्थिरता, धैर्य, प्रेम, सहानुभूति, जैसे सद्भावो का विकास सम्भव है।

९

शिक्षा और स्वाध्याय

अकर्म भूमि से कर्म भूमि मे प्रवेश कर मनुष्य ने असि, मसि, कृषि जैसे शिल्प और उद्योग का सहारा लेकर जीवन यापन प्रारम्भ किया, इससे प्रकृति निर्भरता छूटी और आत्मनिर्भरता आयी। यह आत्मनिर्भरता बहिर्मुखी थी, शरीर और इन्द्रियो तक सीमित थी। इसे अन्तर्मुखी बनाने के लिये अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म की देशना दी गई। कहना चाहिये, यही से शिक्षा का सच्चा स्वरूप उभरा।

पशु और मनुष्य की कुछ सहजात वृत्तिया है, जिन्हे 'सज्ञा' कहा गया है। यथा–आहार, भय, मैथुन और परिग्रह। ज्यो-ज्यो इन सज्ञाओ से परे होकर चेतना ऊर्ध्वमुखी होती है, त्यो-त्यो मनुष्यता का विकास होता है। मनुष्यता के विकास करने की प्रक्रिया का नाम ही शिक्षा है। इसी दृष्टि से 'सा विद्या या विमुच्चए' कहा गया है। विद्या वह है जो व्यक्ति को बधनो से मुक्त करे। व्यक्ति के बधन उसकी विकृतिया और कमजोरिया हैं, जिन्हे कषाय कहा गया है। राग और द्वेष मूल कषाय है जिनके उदय से आत्मा की मौलिक शक्तियाँ नष्ट या आवृत्त हो जाती है। सच्ची शिक्षा इन आवरणो को हटाकर मौलिक आत्मशक्तियो को प्रस्फुटित करती है। इस अर्थ मे शिक्षा चरित्र की सज्ञा धारण करती है।

मोटे तौर से शिक्षा के दो स्वरूप है—एक जीवन-निर्वाहकारी शिक्षा और दूसरी जीवन निर्माणकारी शिक्षा। विज्ञान और तकनीकी के विकास के साथ-साथ ज्ञान के क्षेत्र मे मुद्रण आदि के जो आविष्कार हुए है, उनसे जीवन निर्वाहकारी शिक्षा अत्यन्त व्यापक और सुलभ बनी है। इससे ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओ का अध्ययन और जगत् के रहस्यो को जानने की क्षमता-लालसा बढी है। इन्द्रियो के विषय-सेवन के क्षेत्रो

मे वढोतरी हुई है और भोगवृत्ति के नये-नये आयाम खुले हैं। स्कूलो, कॉलेजो और विश्वविद्यालयो मे शिक्षार्थियो की अपार भीड वढी है और जीवन तथा समाज मे एक विशेष प्रकार की तार्किकता, जटिलता, वौद्धिकता का विकास हुआ है।

इस तथाकथित जीवन निर्वाहकारी शिक्षा के साथ-साथ जीवन-निर्माणकारी शिक्षा पर वल न दिये जाने के कारण जीवन और समाज मे अनियन्त्रित असतुलन और विखराव पैदा हो गया है, जिससे शिक्षा विकारो की मुक्ति और आत्मशक्तियो के प्रस्फुटन की प्रक्रिया न वनकर सघर्ष, हिंसा, घुटन, टूटन, विघटन, सक्लेश और आत्मघात का कारण वन गयी है। अत आज की शिक्षण व्यवस्था और दृष्टिकोण मे क्रान्तिकारी परिवर्तन अपेक्षित है।

मनुष्य केवल शरीर नही है, उसके मस्तिष्क और चित्त भी है। मस्तिष्क के विकास की पूरी सुविधाए जुटा कर भी हम शात और सुखी नही हो सकते क्योकि केवल शुष्क चितन से सहृदयता नही पैदा हो सकती। सहृदयता का वास चित्त के सस्कारो मे है। आज की शिक्षा मे चित्त के सस्कारो का कोई विशेष महत्त्व नही है, वहा महत्त्व है वित्त के अर्जन का। जव तक शिक्षा का केन्द्र वित्त का अर्जन रहेगा, वह मुक्ति के वजाय वधन का कारण अधिक वनेगी। शिक्षा मुक्ति का साधन तभी वन सकती है जव वह अपने केन्द्र मे चित्त की शुद्धि को प्रतिष्ठित करे। जव शिक्षा के केन्द्र मे चित्त-शुद्धि का लक्ष्य रहेगा, तव ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप परस्पर जुडेंगे। इन चारो को जोडने का काम अध्ययन से सम्भव नही है। यह सम्भव है स्वाध्याय से। स्वाध्याय का अर्थ है—अपने आपका अध्ययन, अपने द्वारा अपना अध्ययन। इसमे व्यक्ति यान्त्रिक नही, हार्दिक वनता है, इसमे विखराव नही भराव होता है, इसमे व्यक्ति उत्तेजित नही, सवेदनशील वनता है।

मुद्रण के आविष्कार और ज्ञान-विज्ञान के विकास से आज अध्ययन का क्षेत्र काफी विकसित-विस्तृत हो गया है। प्रतिदिन हजारो, लाखो पुस्तकें छपती और विकती है तथा करोडो व्यक्ति उन्हे पढते है। पर एक समय ऐसा भी था जव छापेखानो के अभाव मे अध्ययन-अध्यापन का मूल आधार कतिपय हस्तलिखित प्रतियाँ और उपदेश व प्रवचन-श्रवण ही था। आज तो शिक्षण सस्थाओ के अलावा पुस्तकालय, पत्र-पत्रिकाए, फिल्म, रेडियो, टेलीविजन, टेप-रेकार्डर आदि ज्ञान के कई नये-नये साधन विकसित हो गये हैं।

अध्ययन-कौशल का इतना विकास होने पर भी आज व्यक्ति की ज्ञान-चेतना मौलिकता और सजगता के रूप मे विशेष विकसित नही हो पा रही है। शब्द और विषय का ज्ञान तो बढ रहा है पर अर्थ-ग्रहण और उसकी नानाविध भगिमाओ तक पहुँचने की क्षमता विकसित नही हो पा रही है। बाह्य इन्द्रियो की क्षमता बढने से रग, रूप, शब्द, स्पर्श, आदि की पहचान और प्रतीति मे तो विकास हुआ है, विश्व की घटनाओ मे रुचि बढी है, सामान्य ज्ञान का क्षितिज विस्तृत हुआ है और नित्य नवीन तथ्य जानने की जिज्ञासा जगी है, यह सब शुभ लक्षण है पर इसके समानान्तर अपने आत्म चैतन्य को जानने की जिज्ञासा और उसकी शक्ति को प्रकट करने की क्षमता नही बढी है। फलस्वरूप ज्ञान की आराधना आत्मा के लिये हितकारक, विश्व के लिये कल्याणक और वृत्ति-परिष्कारक नही बन पा रही है। ज्ञान के मथन से अमृत के बजाय विष अधिक निकल रहा है और उस विष को पचाने के लिये जिस शिव-शक्ति का उदय होना चाहिये, वह नही हो पा रही है।

सच बात तो यह है कि केवल अध्ययन से शक्ति के क्षेत्र में संघर्ष को बल मिलता है और उससे आग ही पैदा होती है। जब तक स्वाध्याय की वृत्ति नही बनती तब तक ज्ञान का मथन, नवनीत-अमृत नही दे पाता। स्वाध्याय का अर्थ है—आत्मा का आत्मा द्वारा आत्मा के लिये अध्ययन, ऐसा अध्ययन जिससे आत्मा का हित हो, लोक का कल्याण हो। ऐसा स्वाध्याय अन्तर्मुख हुए बिना नही हो सकता। वीतराग महापुरुषों द्वारा कथित सद्शास्त्रो के वाचन, मनन, चिन्तन, भावन और आस्वादन मे जब स्वाध्यायी एकाग्रचित्त होता है तब उसकी पाचो इन्द्रियो का सवर स्वत: हो जाता है और वह भीतर की गहराई मे अवगाहन कर निजता से जुडने लगता है, अपने आपको बुनने लगता है। उसकी प्रमाद की अवस्था मिट जाती है, उसकी चेतना एकाग्र हो कर भी जागरूक बनी रहती है। उसका ज्ञान केवल आँख द्वारा वाचना या बुद्धि द्वारा पृच्छना तक सीमित नही रहता, वह परिवर्तना और अनुप्रेक्षा द्वारा स्थिर श्रद्धा और निर्मल भाव के रूप मे परिणत हो जाता है तथा उसके आचरण मे ढलकर अपने मे ऐसे शक्तिकण समाहित कर लेता है कि वह प्राणिमात्र के लिये मगल रूप बन जाता है।

आज के युग की यह बडी दु खान्त घटना है कि ज्ञान-विज्ञान का इतना व्यापक प्रसार और अध्ययन-अध्यापन की इतनी सुविधाए प्राप्त होने पर भी व्यक्ति का मन स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त नही हो पा रहा है।

आज की शिक्षा पद्धति मे अध्ययन-कौशल ने स्वाध्याय-कला को निर्वासित कर दिया है। फलस्वरूप हमारी प्रवृत्ति परीक्षोन्मुखी वनकर रह गयी है। भीतर उतरने की वजाय वह वाहरी सावनो का ही सहारा लेती है। इससे व्यावसायिकता का फलक तो विस्तृत हुआ है, पर आध्यात्मिकता की सवेदना सिकुड गयी है, मनोरजन का क्षेत्र तो वढा है पर आत्म-रमण की सम्भावना समाप्त हो गयी है, वृत्तियो को उभरने का तो अवसर मिला है, पर आत्मानुशासन का स्वाद विस्मृत हो गया है। अत आवश्यकता है कि हम स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त हो ताकि आत्म-हनन और आत्म-दमन के स्थान पर आत्म-विश्वास और आत्मोल्लास वढे।

जीवन-निर्माणकारी शिक्षा मे आगे वढने के लिये कौन सक्षम-अक्षम है, इसकी शास्त्रो मे वडी चर्चा आयी है। भ महावीर ने कहा है—

> अह पचहि ठाणेहि, जेहि सिक्खा न लब्भई।
> थम्भा, कोहा, पमाएण, रोगेणालस्सएण य ॥[1]

अर्थात् अहकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य इन पाच कारणो से शिक्षा प्राप्त नही होती।

योग्य शिक्षार्थी के गुणो की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो हास्य न करे, जो सदा इन्द्रिय व मन का दमन करे, जो मर्म प्रकाश न करे, जो चरित्र से हीन न हो, जो रसो मे अति लोलुप न हो, जो कपटी न हो, असत्यभाषी न हो, अविनीत न हो, वही शिक्षाशील है।

विनय को शिक्षा का मूल कहा गया है। गुरु की आज्ञा न मानने वाला, गुरु के समीप न रहने वाला, उनके प्रतिकूल कार्य करने वाला तथा तत्त्वज्ञान रहित अविवेकी, अविनीत, कहा गया है।[2] जो विद्यावान होते हुये भी अभिमानी है, अजितेन्द्रिय है, वार-वार असम्वद्ध भाषण करता है, वह अवहुश्रुत है[3], अविनीत है। ऐसे शिक्षार्थी को शिक्षणशाला से वहिर्गमित (वाहर निकालना) करने का विधान है। शास्त्रो मे ऐसे अविनीत शिष्य को सडेकानो वाली कुतिया और सुअर से उपमित किया गया है।[4]

---

१ उत्तराध्ययन ११।३
२ उत्तराध्ययन सूत्र १।३
३ उत्तराध्ययन सूत्र ११।२
४ उत्तराध्ययन सूत्र १।४-५

ज्ञान-प्राप्ति मे विनय गुण बहुत बडा साधक है। विनीत को सम्पत्ति व अविनीत को विपत्ति कहा गया है। ज्ञान के अवरोधक कारणो की विवेचना करते हुए कहा गया है कि जो ज्ञानी का अवर्णवाद करता है, ज्ञानी की निंदा करता है और उसका उपकार नही मानता है, ज्ञान मे अन्तराय डालता है, ज्ञान व ज्ञानी की आशातना करता है, ज्ञानी से द्वेष करता है और ज्ञानी के साथ खोटा विसम्वाद करता है, उसे सच्चा ज्ञान प्राप्त नही होता और जिसे सम्यक् ज्ञान नही होता वह बधनो से मुक्त नही होता।

ज्ञान सम्पन्न होना मानव जीवन की सार्थकता की पहली शर्त है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र के २९वे अध्ययन 'सम्यक्त्व पराक्रम' मे गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते है—भगवन्! ज्ञान सम्पन्न होने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?[1] उत्तर मे भगवान् फरमाते है—ज्ञान सम्पन्न होने से जीवात्मा सब पदार्थों के यथार्थ भाव को जान सकता और चतुर्गति रूप ससार-अटवी मे दुखी नही होता।[2] जैसे सूत्र (सूत-डोरा) सहित सूई गुम नही होती, उसी प्रकार सूत्र (आगम ज्ञान-आत्मज्ञान) से युक्त ज्ञानी पुरुष ससार मे भ्रमता नही है[3] और ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय के योगो को प्राप्त करता है। साथ ही अपने सिद्धान्त और दूसरो के सिद्धान्त को भली प्रकार जानकर असत्य मार्ग मे नही फसता है।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि ज्ञान आत्मा का तारक होता है। ज्ञानी कठिनाइयो मे कभी पराजित नही होता। वह 'स्व' और 'पर' के कल्याण मे समर्थ होता है।

आज जो शिक्षा दी जाती है, उसका मुख्य उद्देश्य मस्तिष्क की ऐसी तैयारी है जो जीवन की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये अधिक से अधिक धनोपार्जन करने मे सक्षम हो। उसका चेतना के विकास अथवा हृदय की सद्वृत्तियो को उदात्त और उन्नत बनाने की चारित्र-साधना व सेवा-भावना से सीधा सम्बन्ध नही है। यही कारण है कि जीवन-निर्माण मे उसकी भूमिका प्रभावी रूप से सामने नही आ पा रही

---

१ नाणसपन्नयाए ण भन्ते! जीवे किं जणयइ?

२ नाणसपन्नयाए ण जीवे सव्वभावाहिगम जणयइ।
नाण सपन्ने ण जीवे चाउरन्ते संसारकन्तारे न विणस्सइ॥

३ जहा सूई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, ससारे न विणस्सइ॥ उत्तरा २९।५९

है। सर्वेक्षणो से पता चलता है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली और शिक्षक की भूमिका मे समाज मे अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता, तोड-फोड, दुर्व्यसन, अपराधवृत्ति और सामाजिक विघटन को बढावा मिला है। अत आवश्यक है कि शिक्षा को चरित्र-निर्माण मे सीधा जोडा जाय। चारित्र का अर्थ है अशुभ कर्मों से निवृत्त होना और शुभ कर्मो मे प्रवृत्त होना। जीवन और समाज मे ऐसे कार्य नही करना जिससे तनाव बढता हो, अशान्ति पैदा होती हो, और ऊच-नीच का भाव आश्रय पाता हो। हिंसा, झूठ, चोरी, असयम और सचयवृत्ति ऐसे कार्य हैं जिनसे हर व्यक्ति को बचना चाहिये। प्रारम्भ से ही सिद्धान्त और व्यवहार दोनो धरातलो पर ऐसा शिक्षण-प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये कि शिक्षार्थी मे दूसरो के प्रति प्रेम, सहयोग और बन्धुत्व का भाव पैदा हो, सत्य के प्रति निष्ठा जगे, आत्मानुशासन आये, जीवन मे सादगी व सरलता का भाव बढे।

भावो की विशुद्धि होने से ही सभी प्राणियो के प्रति मैत्री भाव पैदा होता है, दूसरो के गुणो के प्रति प्रसन्नता का उद्रेक होता है, दुखियो के प्रति करुणा उमडती है, और सुख-दुःख मे, हानि-लाभ मे, निन्दा-प्रशसा मे, समताभाव रखने का अभ्यास होता है। इस प्रकार की भावनाओ का चिन्तन और अभ्यास व्यक्ति की वृत्तियो मे परिष्कार लाता है जिससे ज्ञान, प्रज्ञा मे रूपान्तरित होने लगता है। ज्ञान का प्रज्ञा अथवा विवेक मे रूपान्तरण ही सम्यक्चारित्र है। जब ज्ञान चारित्र का रूप लेता है तब कषाय भाव उपशमित होने लगते हैं। आत्मा विभाव से हटकर स्वभाव मे आ जाती है। आत्मा के विभाव हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोध का क्षमा मे, मान का मार्दव मे, माया का आर्जव मे, लोभ का सतोष मे रूपान्तरित होना आत्मा का अपने स्वभाव मे आना है।

आज की हमारी शिक्षा स्वभाव मे नही है। वह विभाव मे है। विभाव अतिक्रमण करता है, बने-बनाये नियमो को तोडता है। जीवन और समाज मे विपत्ति और विघटन पैदा करता है। सच्ची शिक्षा का कार्य है विभाव को स्वभाव मे लाना, अतिक्रमण का प्रतिक्रमण करना। इसके लिये तप, सयम, श्रद्धा, सेवा और जागरुकता का होना आवश्यक है।

जागरुकता की भावना के अभ्यास के लिये सामायिक का विधान किया गया है। सामायिक का अर्थ है समय-सम्बन्धी और समय का अर्थ है—समता की आय, समभाव की प्राप्ति, आत्मा की तटस्थ वृत्ति। ज्ञान जब सामायिक मे होता है—अर्थात् जीवन मे सद्भाव लाता है, तब वह

विज्ञान बन जाता है। विज्ञान, त्याग व प्रत्याख्यान की ओर ले जाता है। त्याग से सयम भाव अर्थात् अपने पर नियत्रण की प्रवृत्ति विकसित होती है, जिससे दुष्प्रवृत्तियाँ रुकती हैं और सद्प्रवृत्तियाँ वृद्धिमान होती हैं। इस प्रकार जीवन-निर्माण का क्रम सतत विकास को प्राप्त होता रहता है। इसी दृष्टि से भगवान् महावीर ने कहा है—

नाणेण विणा न हुति चरणगुणा।[1]

अर्थात् ज्ञान के अभाव मे चरित्र-सयम नही होता।
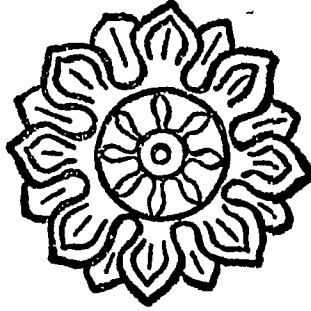
१. उत्तराध्ययन सूत्र २८।३०

१०

अनुशासन : स्वरूप और दृष्टि

सामान्यत: यह माना जाता है कि ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ-साथ शासन और अनुशासन मे अधिक निखार, जुडाव और भराव आना चाहिये। पर वर्तमान स्थिति की ओर दृष्टिपात करने से लगता है कि आज ज्ञान-विज्ञान के नानाविध क्षेत्रो मे द्रुतगामी विकास करने पर भी जीवन और समाज मे अनुशासन की निष्ठा परिलक्षित नही होती। जीवन यात्रा को सरल, सुगम और निरापद बनाने के नये-नये साधन जुटाने पर भी यात्रा अधिकाधिक वक्र, दुर्गम और भयावह बनती जा रही है। आज का जीवन वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक और आर्थिक सभी क्षेत्रो मे विविध प्रकार की दुर्घटनाओ से ग्रस्त है। क्षण-प्रतिक्षण बाहरी और भीतरी धरातलो पर 'एक्सीडेण्टस्' हो रहे हैं। शक्ति का अपरिमित सचय करके भी आज का मानव सुखी और शान्त नही है। वह तनाव, विग्रह, परिग्रह, अविश्वास, असुरक्षा, असतोष, कुठा, सत्रास, भय, व्याकुलता जैसे मनोरोगो से घिरा हुआ है। जब शक्ति के साथ सयम का मेल नही होता, ज्ञान के साथ क्रिया का सम्बन्ध नही जुडता, तब ऐसी स्थिति का बनना अस्वाभाविक नही।

आज हम मे से अधिकाश लोग अस्वाभाविक दशा मे जी रहे है। आत्मा का मूल स्वभाव समता, सरलता, कोमलता और निर्लोभ दशा मे रमण करना है। यह दशा मन की एकाग्रता और आत्मवादी चिंतन का परिणाम है। आज हमारा मन एकाग्र नही है। वह अस्थिर और चचल है। मन की अस्थिरता और चचलता, भोगवृत्ति और आसक्ति का परिणाम है। ऐसा व्यक्ति न अपने शासन मे रहता है और न किसी अन्य

के। 'आचाराग' सूत्र मे ऐसे व्यक्ति की मानसिकता का वर्णन करते हुए कहा गया है—'अणेग चित्ते खलु अय पुरिसे, से केयण अरिह इ पूरइत्तए। से अण्णवहाए अण्णपरियावाए, अण्णपरिग्गहाए जणवयवहाए जणवय-परियावाए जणवयपरिग्गहाए।"[1]

अर्थात् ऐसा व्यक्ति अनेक चित्त वाला होता है। वह अपनी अपरिमित इच्छाओ को पूरा करने के लिये दूसरे प्राणियो का वध करता है, उनको शारीरिक और मानसिक कष्ट पहुँचाता है, पदार्थों का सचय करता है और जनपद के वध के लिये सक्रिय बनता है। वस्तुतः इस मानसिकता वाला व्यक्ति असयमी और अनुशासनहीन कहा गया है।

शास्त्रो मे अनुशासन को बाहरी नियमो की परिपालना तक ही सीमित नही रखा गया है। वहाँ अनुशासन को विनय और सयम के रूप मे प्रतिपादित किया गया है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र मे विनीत उसे कहा गया है जो गुरु आज्ञा को स्वीकार करता है, गुरु के समीप रहता है और मन, वचन तथा काया पर नियत्रण रखता है। जो ऐसा नही करता वह अविनीत है, अनुशासनहीन है और साक्षात् विपत्ति है। ऐसे अनुशासनहीन की भर्त्सना करते हुए उसे सड़े कानो वाली कुतिया से उपमित किया गया है और कहा है कि जैसे सड़े कानो वाली कुतिया सब जगह से निकाली जाती है, उसी तरह दुष्ट स्वभाव वाला, गुरुजनो के विरुद्ध आचरण करने वाला, वाचाल व्यक्ति सघ अर्थात् समाज से निकाला जाता है। ऐसा समझकर अपना हित चाहने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा को विनय (अनुशासन) मे स्थापित करे– विणए ठविज्ज अप्पाण, इच्छतो हियमप्पणो।[2]

आज का व्यक्ति अनुशासन को आत्मकेन्द्रित न समझकर परकेन्द्रित समझता है। जो कानून बनाने वाला या पालन कराने वाला है, वह अपने को कानून से ऊपर समझकर उसके प्रति आचारवान नही रहता। दूसरे शब्दो मे वह अन्यो से अनुशासन का पालन करवाना चाहता है, पर स्वयं अनुशासित नही होना चाहता है, जबकि सच्चा अनुशासन अपने आपको नियन्त्रित करना ही है।

'अनुशासन' शब्द 'अनु'+'शासन' से मिलकर बना है। 'शासन' मुख्य शब्द है जो 'शास्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—शासन करना।

१—आचाराग, तृतीय अध्ययन, द्वितीय उद्देशक, सूत्र ११८

२—उत्तराध्ययन सूत्र १/६

'शासन' शब्द का प्रयोग ग्राज्ञा, शिक्षा, सीख ग्रौर उपदेश के ग्रर्थ मे कई जगह हुग्रा है। आज्ञा, सीख या उपदेश देने का ग्रधिकारी वही माना गया है, जिसने अपने पर नियन्त्रण कर लिया है। 'शासन' के पूर्व 'ग्रनु' उपसर्ग लगने से 'अनुशासन' शब्द बना है। 'ग्रनु' के कई अर्थ है। एक ग्रर्थ है, पीछे या वाद मे, ग्रर्थात् जो स्वय शासन मे रहकर वाद मे दूसरो को उस पर चलाये। 'अनु' का दूसरा ग्रर्थ है—साथ मे लगा हुग्रा या निकट, ग्रर्थात् वह ग्राचरण या क्रिया जो ग्रात्म-नियन्त्रण से सम्वद्ध हो। 'अनु' का तीसरा ग्रर्थ है—कई वार या वार-वार ग्रर्थात् जो शासना या ग्राज्ञा है, उसे वार-वार स्मरण कर उस पर चला जाय। 'ग्रनु' का चौथा अर्थ है– तुल्य या समान, ग्रर्थात् जो ग्राचरण ग्रात्मशासन के समान हो। 'ग्रनु' का पाँचवा ग्रर्थ है—ठीक, नियमित, ग्रनुकूल ग्रर्थात् जो आत्म-स्वभाव के ग्रनुकूल हो।

इन विभिन्न अर्थों से अनुशासन का जो स्वरूप स्पष्ट होता है, वह दूसरे को नियन्त्रित करने की वजाय 'स्व' को नियन्त्रित करने का है। दूसरे को दवाने की वजाय ग्रपने मानसिक चाचल्य को दवाने का है। पर यह दवाव ग्रारोपित न होकर स्वत·स्फूर्त होना चाहिये। दृष्टि की निर्मलता के विना यह सभव नही। दृष्टि निर्मल तव वनती है जव वह पर पदार्थों के प्रति ग्रासक्त न होकर स्वसम्मुख होती है। जव तक यह दृष्टिकोण वना रहता है कि सुख वाहरी पदार्थों, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पर आश्रित है अथवा कामनाग्रो की पूर्ति मे निहित है, तव तक व्यक्ति स्व-सम्मुख नही हो सकता। इन्द्रिय-सुख की भोगवृत्ति और विपयासक्ति उसे ग्रात्मकेन्द्र से परे हटा कर भौतिक जीवन की परिधि पर ही वेतहाशा दौडाती रहती है। मनोज्ञ के प्रति राग ग्रौर ग्रमनोज्ञ के प्रति द्वेप वृत्ति उसे ग्राकुल ग्रौर द्वन्द्वमय वनाये रखती है। फलस्वरूप वह अनुशासन—वाहरी—भीतरी—को तोडने का भरसक प्रयत्न करता रहता है। आज जीवन के विविध क्षेत्रो मे तोडफोड, रक्तपात, लूटखसोट, ग्रागजनी, वलात्कार, तस्करी, कर-चोरी, घूसखोरी आदि रूपो मे ग्रनुशासनहीनता के जो घिनौने कृत्य हमारे सामने उभर रहे है, उनके मूल मे इन्द्रिय-भोग, कापायिक भाव ग्रौर मन-वचन-काया की चचलता ही है।

विभिन्न प्रकार के कानून वनाकर अनुशासनहीनता के उक्त रूपो को जड से दूर नही किया जा सकता, क्योकि उन रूपो की जड वाहरी पदार्थों मे नही व्यक्ति की चेतना (मनोविकार) मे है। ऐसी चेतना मे जिसे भगवान

महावीर ने हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, सुनने, देखने, सूंघने, चखने और छूने की भोग शक्ति, क्रोध, मान, माया और लोभ की भावना तथा मन, वचन और काया की अपवित्रता कहा है। इन मनोविकारो पर नियन्त्रण करके ही वर्तमान युग मे व्याप्त हिंसा, चोरी और नानाविध अपराध वृत्तियो पर विजय प्राप्त की जा सकती है, क्योकि जो दुर्जेय सग्राम मे हजारो हजार योद्धाओ को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो एक अपने को जीतता है, उसकी विजय ही परम विजय है—

जो सहस्स सहस्साणं, सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ ॥[1]

आत्मविजय की यह दृष्टि तभी विकसित हो सकती है, जब व्यक्ति यह अनुभव करे कि जैसा मेरा अस्तित्व है, वैसा दूसरे का भी है, जैसे सुख मुझे प्रिय है, वैसे दूसरे को भी है, जैसा मैं अपने साथ दूसरो से व्यवहार चाहता हूँ वैसा व्यवहार दूसरा भी अपने साथ चाहता है। यह दृष्टि ससार के सभी प्राणियो को अपने समान समझने जैसी मैत्री भावना का विकास किये विना नही आ सकती। यह मैत्री-भाव अहिंसा और प्रेम भाव का परिणाम है और है अनुशासन का मूल उत्स। जब व्यक्ति दूसरे प्राणियो को अपने समान समझने लगता है तब वह उन कार्यों और प्रवृत्तियो से वचने का प्रयत्न करता है, जिनसे समाज मे उच्छृखलता फैलती है, तनाव वढता है और हिंसा भडकती है। जब-जब मन मे दूसरो के प्रति क्रूर भाव पैदा होता है, परायेपन का भाव जागता है, तव-तव व्यक्ति असामाजिक और अनैतिक कार्य करता है, अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है, राग-द्वेप के सकल्पो-विकल्पो मे तैरता-उतराता है, और इस प्रकार नये-नये मानसिक तनावो को आमन्त्रित करता है, नई-नई ग्रथियो को जन्म देता है और फलतः दु खी व सतप्त होता है। इस दु ख से मुक्त होने के लिये भगवान् महावीर ने वार-वार कहा है कि हे आत्मन् तू दूसरो को न देख, अपने को देख, क्योकि अपने सुख-दु.ख का कर्ता तू स्वय ही है। सत्प्रवृत्त आत्मा ही तेरा मित्र है और दुष्प्रवृत्त आत्मा तेरा शत्रु, अत. तू दूसरो को नियन्त्रित और अनुशासित करने की वजाय पहले अपने को नियन्त्रित और अनुशासित कर। यह नियन्त्रण और अनुशासन, सयम और तप के द्वारा सभव है। सयम का अर्थ है—अपनी

१—उत्तराध्ययन सूत्र ६/३४

वहिर्वृत्तियो को अन्तर्मुखी वनाना, अपने मनोवेगो पर नियन्त्रण करना, मन को अशुभ प्रवृत्ति से हटाकर शुभ प्रवृत्ति मे लीन करना, वाणी पर अकुश लगाना और यतना (विवेक) पूर्वक कार्य करना। इस प्रकार संयमी और अनुशासित वनने के परिणाम से साधक अनाश्रवी वनता है, अर्थात् आते हुए उसके कर्मों का निरोध होता है।

तप का अर्थ है—आत्म शुद्धि, वह साधना है जिसके द्वारा सचित कर्म नष्ट हो जायें। विविध प्रकार के वाह्य और आभ्यतर तपो से व्यक्ति मे सहनशीलता, क्षमा, समता और अनासक्त भावना का विकास होता है। फलस्वरूप व्यक्ति अन्तर्मुखी वनकर कर्मों की निर्जरा करता है। जो व्यक्ति सयम और तप के द्वारा आत्मानुशासन नही करता उसे राग और द्वेष के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पडते हैं। असामाजिक, अनैतिक और अन्य अपराधो के कारण उसे कानून के तहत दण्ड भोगना पडता है। यह दण्ड कारागृह से लेकर फासी तक हो सकता है। इसीलिये ससार के प्राणियो को सावचेत करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—

वर मे अप्पा दतो, सजमेण तवेण य।
माह परेहि दम्मतो, ववणेहि वहेहि य ॥[1]

अनुशासन का शिक्षा के साथ गहरा सम्वन्ध है। शिक्षा व्यक्ति को सस्कार सम्पन्न वनाकर उसकी विकृत्तियो को दूर करती है। पर आज शिक्षा का सम्वन्ध जीवन-निर्माण से कट कर जीवन-निर्वाह से जुड गया है। अत शिक्षा के केन्द्र मे चित्त शुद्धि न रहकर वित्त की उपलब्धि प्रतिष्ठित हो गई है। जव-जव वित्त की ओर ध्यान रहेगा, तव-तव चित्त चचल और अस्थिर होगा। चित्त की चचलता और अस्थिरता मे अनुशासन कायम नही रह सकता। यही कारण है कि आज के शिक्षा केन्द्र विश्वविद्यालय और महाविद्यालय रचनात्मक शक्तियो के विकास की वजाय विध्वसात्मक शक्तियो के केन्द्र वने हुए हैं। जव शिक्षा के केन्द्र मे चित्त-शुद्धि का लक्ष्य रहेगा तव ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप परस्पर जुडेंगे। इन चारो को जोडने का काम अध्ययन से सभव नही है, यह सम्भव है—स्वाध्याय मे। स्वाध्याय का अर्थ है—अपने आपका अध्ययन, अपने द्वारा अपना अध्ययन। इसमे व्यक्ति यान्त्रिक नही, हार्दिक वनता

१—उत्तराध्ययन सूत्र १/१६

है, इसमे विखराव नही, भराव होता है, इससे व्यक्ति उत्तेजित नही, सवेदनशील वनता है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र मे कहा गया है—

> अह पचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
> थम्भा, कोहा, पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥११/३॥

अर्थात् अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य इन पाँच कारणो से शिक्षा प्राप्त नहीं होती और जो शिक्षित नही होता, वह अनुशासित भी नही हो सकता। इसीलिये विनय को शिक्षा, धर्म और अनुशासन का मूल कहा गया है।[1]

अनुशासन व्यक्तित्व के विकास में वड़ा सहायक होता है। व्यक्तित्व के विकास का एक प्रमुख तत्त्व है—आत्म निरीक्षण, अर्थात् अपने दोपों के प्रति सजगता और दूसरों के गुणो के प्रति प्रमोद भाव। जव व्यक्ति अपने शासन को या समाज की व्यवस्था को अथवा राज्य के कानून को तोड़ता है तो उसके व्यक्तित्व मे जगह-जगह छिद्र वन जाते हैं, उन छिद्रों को रोकने का मार्ग है—अपने दोषों की आलोचना करना और भविष्य मे उनकी पुनरावृत्ति न हो, इसका संकल्प करना। इस प्रकार प्रायश्चित अर्थात् पापो की शुद्धि करने से व्यक्तित्व निखरता है और आत्मवल का विकास होता है। यह सव अनुशासनवद्धता का ही परिणाम है। अत. कहा जा सकता है कि अनुशासन का पालन वही व्यक्ति कर सकता है, जिसमें भोगों के प्रति विरति के साथ आन्तरिक वीरत्व का सम्वल हो। इस आन्तरिक वीरत्व को जाग्रत करने के लिये व्यक्ति का अप्रमादी होना पहली शर्त है। साधक को सचेत करते हुए कहा गया है—उठ्ठिए णो पमायए—उठो प्रमाद मत करो। जहाँ-जहाँ प्रमाद है वहाँ-वहाँ विवाद और मूर्च्छा है। आत्म-जागरण द्वारा इस मूर्च्छा को तोड़ा जा सकता है। संक्षेप मे अनुशासनवद्ध होने का अर्थ है, अपने आन्तरिक वीरत्व से जुड़ना, चेतना के स्तर को ऊर्ध्वमुखी वनाना और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री—सम्वन्ध स्थापित करना।

१—धम्मस्स विणओ मूल—दशवैकालिक ६/२/२

□□

११

ध्यान तत्त्व का प्रसार

आज का युग विज्ञान और तकनीकी प्रगति का युग है, गतिशीलता और जटिलता का युग है, अत यह प्रश्न सहज उठ सकता है कि ऐसे द्रुतजीवी युग मे ध्यान-साधना की क्या सार्थकता और उपयोगिता हो सकती है। ध्यान का वोध हमे कही प्रगति की दौड मे रोक तो नही लेगा, हमारी क्रियाशीलता को कु ठित तो नही कर देगा, हमारे सस्कारो को जड और विचारो को स्थितिशील तो नही वना देगा ? ये खतरे ऊपर से ठीक लग सकते हैं पर वस्तुत· ये सतही हैं और ध्यान-साधना से इनका कोई सीधा सम्वन्ध नही है। वस्तुतः ध्यान साधना निष्क्रियता या जडता का वोध नही है। यह समता, क्षमता और अखण्ड शक्ति व शाति का विधायक तत्त्व है।

एक समय था, जव मुमुक्षुजनो के लिए ध्यान का लक्ष्य निर्वाण-प्राप्ति था। वे मुक्ति के लिए ध्यान-साधना मे तल्लीन रहते थे। आध्यात्मिक दृष्टि से यह लक्ष्य अव भी वना हुआ है। पर वैज्ञानिक प्रगति और मानसिक वोध के जटिल विकास ने ध्यान-साधना की सामाजिक और व्यावहारिक उपयोगिता भी स्पष्ट प्रकट कर दी है। यही कारण है कि आज विदेश मे ध्यान भौतिक वैभव से सम्पन्न लोगो का आकर्षण केन्द्र वनता चला जा रहा है।

ध्यान और चेतना

ध्यान का सम्वन्ध चेतना के क्षेत्र से है। मनोवैज्ञानिको ने चेतना के मुख्यत. तीन प्रकार वतलाये है—

(१) जानना अर्थात् ज्ञान (Cognition)।

(२) अनुभव करना अर्थात् अनुभूति (Feeling) और

(३) चेष्टा करना अर्थात् मानसिक सक्रियता (Conation)।

ये तीनो मन के विकास मे परस्पर सम्बद्ध-सलग्न हैं। ध्यान एक प्रकार की मानसिक चेष्टा है। यह मन को किसी वस्तु या सवेदना पर केन्द्रित करने मे सक्रिय रहती है। पर आध्यात्मिक पुरुषो ने ध्यान को इससे आगे चित्तवृत्ति के निरोध के रूप मे स्वीकार कर आत्म-स्वरूप मे रमण करने की प्रक्रिया बतलाया है।

ध्यान का अर्थ है एकाग्रता। उसकी विपरीत स्थिति है व्यग्रता। व्यग्रता से एकाग्रता की ओर जाना ध्यान का लक्ष्य है। व्यग्रता पर पदार्थों के प्रति आसक्ति का परिणाम है। इस आसक्ति को कम करते हुए, विषय-विमुख होते हुए स्व-सम्मुख होना ध्यान है।

ध्यान के प्रकार

ध्यान के कई अग-उपाग है। जैन दर्शन मे इसका कई प्रकार से वर्गीकरण मिलता है। ध्यान के मुख्य चार प्रकार हैं—

१. आर्त्तध्यान,

२. रौद्र ध्यान,

३. धर्म ध्यान और

४ शुक्ल ध्यान।

आर्त्त का अर्थ है पीडा, दु ख, चीत्कार। इस ध्यान मे चित्तवृत्ति बाह्य विषयो की ओर उन्मुख रहती है। कभी अप्रिय वस्तु के मिलने पर और कभी प्रिय वस्तु के अलग होने पर आकुलता बनी रहती है। इस आकुलता का मूल कारण है राग।

रौद्र का अर्थ है—भयकर, डरावना। इस ध्यान मे हिंसा, झूठ, चोरी, विषयादि सेवन की पूर्ति मे सलग्नता रहती है और इनके बाधक तत्त्वो के प्रति द्वेष के कारण कठोर-क्रूर भावना बनी रहती है।

आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान दोनो त्याज्य हैं। आर्त्त ध्यान व्यक्ति को राग मे बाधता है और रौद्र ध्यान द्वेष मे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये दोनो ध्यान अनैच्छिक ध्यान की श्रेणी मे आते है। इनके ध्याने मे इच्छा शक्ति को कोई प्रयत्न नही करना पडता। ये मानव की पशु-प्रवृत्ति को संतृप्ति देने मे ही लीन रहते हैं। इनका साधना की दृष्टि से कोई महत्त्व

नही है। आध्यात्मिक दृष्टि से इन्हे 'ध्यान' नही कहा जा सकता। ये अशुभ ध्यान हैं।

धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान शुभ ध्यान हैं। इनका चिन्तन राग-द्वेष को कम करने के लिए किया जाता है। ये आभ्यतर तप कहे गये हैं। धर्म ध्यान के चार प्रकार माने गये है—

१ आज्ञा विचय—आगम सूत्रो मे प्रतिपादित तत्त्वो को ध्येय वनाकर उनका चिन्तन करना, अर्थात् मुक्ति-मार्ग पर विचार करना।

२ अपाय विचय-रागद्वेपादि दोपो के कारण व निवारण पर विचार करना।

३ विपाक विचय—कर्म वध से लेकर उनके निर्जरित होने तक की प्रक्रिया पर विचार करना।

४ सस्थान विचय—ससार के स्वरूप व उसकी सचरण-प्रणाली पर विचार करना।

धर्म ध्यान के उपर्युक्त प्रकार के विचारो का सतत प्रवाह धर्मध्यान है। जिनदेव और साधु के गुणो का कीर्तन करना, विनय करना, दान सम्पन्नता, श्रुत, शील और सयम मे रत होना धर्मध्यान है।[1] आगे की अवस्था शुक्ल ध्यान है। यह शुद्ध ध्यान माना गया है। इसके भी चार प्रकार हैं—

१ पृथक्त्व वितर्क सविचार—इसमे अर्थ, व्यजन और योग का सक्रमण रूप से—एक पदार्थ को विचार कर उसे छोड दूसरे पदार्थ मे विचार जाना—विचार किया जाता है।

२ एकत्व वितर्क अविचार—इसमे एक ही पदार्थ पर अटल रहकर अभेद बुद्धि द्वारा विचार किया जाता है। इसमे सक्रमण का अभाव रहता है।

३ सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति—इसमे मन-वचन-काया सम्बन्धी स्थूल योगो को सूक्ष्म योग द्वारा रोक दिया जाता है और मात्र श्वास-उच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया ही रह जाती है। इसका पतन नही होता। सयोगी केवली को यह ध्यान होता है।

---

१ जिण साहु गुणक्कित्तण-पससणा, विणय-दाण सपण्णा।
सुद-सील-सजमरदा, धम्मज्झाणे मुणेयव्वा॥
—षटखण्डागम ५-४-२६ धवलाटीका

४ समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति—जब शरीर की श्वास-प्रश्वास क्रिया भी बन्द हो जाती है और आत्म-प्रदेश सर्वथा निष्कम्प हो जाते है। इसमे स्थूल या सूक्ष्म किसी प्रकार की मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया नही रहती। यही मुक्त दशा की स्थिति है।

शुक्ल ध्यान के आरम्भिक दो ध्यानो मे श्रुत ज्ञान का अवलम्ब लेना होता है जबकि अन्तिम दो मे श्रुत ज्ञान का आलम्बन भी नही रहता। अत· ये दोनो ध्यान अनालम्बन कहलाते है।

बौद्ध धर्म मे ध्यान पर सर्वाधिक जोर दिया गया है। वहाँ ध्यान (झान) का एक अर्थ चित्तवृत्तियो को जलाना भी किया है। यहाँ ध्यान के दो मुख्य प्रकार माने गये हैं—

१ आरभण उपनिज्झान—जिसमे चित्त के विषयभूत वस्तु (आलम्बन) पर चिन्तन किया जाता है।

२ लक्खण उपनिज्झान—जिसमे ध्येय वस्तु के लक्षणो पर चिन्तन किया जाता है।

ध्यान-तत्त्व का प्रसार

भगवान् महावीर और बुद्ध दोनो बडे ध्यान-योगी थे। ध्यानावस्था मे ही दोनो मुक्त हुए। महावीर की ध्यान-परम्परा मध्य-युग मे आकर मन्द पड गई। इसके कई सामाजिक और प्राकृतिक कारण रहे हैं। जैन श्रमणो के नगर-सम्पर्क ने भी उसमे बाधा डाली।[1] पर बुद्ध की ध्यान-परम्परा ने ध्यान-सम्प्रदाय का एक स्वतन्त्र रूप ही धारण कर लिया और चीन-जापान मे उसका व्यापक प्रचार हुआ। वह परम्परा आज भी वहाँ जीवित है।[2]

---

१ पर वर्तमान मे जैन आचार्यों, मुनियो व साधको द्वारा जैन ध्यान-परम्परा को फिर से पुनर्जीवित करने का प्रयास किया जा रहा है। इस दिशा मे विविध प्रयोग हो रहे है, यथा–प्रेक्षा ध्यान, समीक्षण ध्यान, अनुप्रेक्षा ध्यान आदि।

२ बुद्ध की ध्यान-परम्परा, ब्रह्मा, लका, मलय प्रायद्वीप, थाईलैण्ड आदि देशो मे भी गई, जो वहाँ विविध रूपो मे आज भी विद्यमान है। उन्ही मे से एक विधि 'वियश्यना' ध्यान नाम से प्रसिद्ध है। भारत मे श्री सत्यनारायण गोयनका द्वारा इसका पुनर्जागरण गत कुछ वर्षों मे किया गया है जिसके तीन मुख्य केन्द्र हैं—इगतपुरी (महाराष्ट्र), हैदराबाद और जयपुर।

बुद्ध के बाद हुए २८वें धर्माचार्य[1] बोधिधर्म[2] ने सन् ५२० या ५२६ ई० मे चीन जाकर वहाँ ध्यान-सम्प्रदाय (चान्-त्यु ग) की स्थापना की। बोधिधर्म की मृत्यु के बाद भी चीन मे उनकी परम्परा चलती रही। उनके उत्तराधिकारी इस प्रकार हुए—

१. हुई के (सन् ४०६–५९३ ई०)

२ सेंग-त्सन् (मृत्यु सन् ६०६ ई०)

३ ताओ हसिन (सन् ५८०–६५१ ई०)

४ हुग-जैन (सन् ६०१–६७४ ई०)

५ हुइ-नेग् (सन् ६३८–७१३ ई०)

हुइ-नेंग् ने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नही किया पर यह परम्परा वहाँ चलती रही। इसका चरम विकास तग् (सन् ६१६–६०५ ई०) सु ग् (सन् ९६०–१२७८ ई०) और यूआन् (सन् १२०६–१३१४ ई०) राजवशो के शासन-काल मे हुआ। १३–१४वी शती के बाद महायान बौद्ध-धर्म का एक अन्य सम्प्रदाय जो अभिताभ की भक्ति और उनके नाम जप पर जोर देता है, अधिक प्रभावशाली हो गया। इसका नाम जोदो-शूया सुखावती सम्प्रदाय है। सम्प्रति चीन-जापान मे यह सर्वाधिक प्रभावशील है।

चीन से यह तत्त्व जापान गया। येह-साइ (सन् ११४१–१२१' ई०) नामक जापानी भिक्षु ने चीन मे जाकर इसका अध्ययन किया और

१—बोधिधर्म के पहले जो २७ धर्माचार्य हुए, उनके नाम इस प्रकार है—१ महाकाश्यप, २ आनन्द, ३ शाणवास, ४ उपगुप्त, ५ धृतक, ६. मिच्छक, ७ वसुमित्र, ८ बुद्धनन्दी, ९ बुद्धमित्र, १० भिक्षु पार्श्व, ११ पुण्ययशस्, १२ अश्वघोष, १३ भिक्षु कपिमाल, १४. नागार्जुन १५ काणदेव, १६ आर्य राहुलत, १७ सघनदी, १८ सघयशस्, १९ कुमारत, २० जयत, २१ वसुबन्धु, २२ मनुर, २३ हक्लेनयशस्, २४ भिक्षुसिह, २५ वाशसित्, २६ पुण्यमित्र, २७ प्रज्ञातर।

—ध्यान सम्प्रदाय डॉ० भगतसिह उपाध्याय, पृ० ३१–१४।

२—ये दक्षिण भारत के काचीपुरम् के क्षत्रिय (एक अन्य परम्परा के अनुसार ब्राह्मण) राजा सुगन्ध के तृतीय पुत्र थे। इन्होंने अपने गुरु प्रज्ञातर से चालीस वर्ष तक बौद्ध धर्म की शिक्षा प्राप्त की। गुरु की मृत्यु के बाद ये उनके आदेश का अनुसरण कर चीन गये। —ध्यान सम्प्रदाय, पृ १

फिर जापान मे इसका प्रचार किया । जापान मे इस तत्त्व की तीन प्रधान शाखाएँ है—

१ रिजई शाखा—इसके मूल प्रवर्तक चीनी महात्मा रिजई थे। इस शाखा मे येइसाइ, दाए-ओ (सन् १२३५–१३०८ ई०), देतो (सन् १२८२–१३३६), क्वजन (सन् १२७७–१३६० ई०), हेकुमिन् (सन् १६८५–१७६८ ई०) जैसे विचारक ध्यान-योगी हुए।

२. सोतो शाखा—इसकी स्थापना येइ-साइ के वाद उनके शिष्य दो-गेन् (सन् १२००–१२५३ ई०) ने की। इसका सम्बन्ध चीनी महात्मा हुइ-नंग के शिष्य चिगयूआन् और उनके शिष्य शिद्-ताउ (सन् ७००–७६० ई०) से रहा है।

३. ओवाकु शाखा—इसकी स्थापना इजेन (सन् १५६२–१६७३ ई०) ने की। मूल रूप मे इसके प्रवर्तक चीनी महात्मा हुआङ-पो थे। जिनका समय ६वी शती है और जो हुइ-नेंग् की शिष्य परम्परा की तीसरा पीढी मे थे।

उपर्युक्त विवरण से सूचित होता है कि ध्यान तत्त्व का वीज भारत से चीन-जापान गया, वहाँ वह अकुरित ही नही हुआ, पल्लवित, पुष्पित और फलित भी हुआ। वहाँ के जन-जीवन मे (विशेषत. जापान मे) यह तत्त्व घुलमिल गया है। वह केवल अध्यात्म तक सीमित नही रहा, उसने पूरे जीवन-प्रवाह मे अपना ओज और तेज विखेरा है। येइ-साइ की एक पुस्तक 'कोजन-गोकोकु-रोन' (ध्यान के प्रचार के रूप मे राष्ट्र की सुरक्षा) ने ध्यान को वीरत्व और राष्ट्र-सुरक्षा से भी जोड़ दिया है। जापान के सिपाहियो मे ध्यानाभ्यास का व्यापक प्रचार है। मनोवल, अनुशासन, दायित्व-वोध और अन्तर्निरीक्षण के लिए वहाँ यह आवश्यक माना जाता है। जापान ने स्वावलम्वी और स्वाश्रयी वनकर जो प्रगति की है, उसके मूल मे ध्यान की यह ऊर्जा प्रवाहित है।

लगता है, पश्चिमी राष्ट्रो मे जो ध्यान का आकर्षण वढा है, वह उसी ध्यान तत्त्व का प्रसार है, चाहे यह प्रेरणा उन्हे सीधी भारत से मिली हो, चाहे चीन-जापान के माध्यम से।

यह इतिहास का कटु सत्य है कि वर्तमान भारतीय जन-मानस अपनी परम्परागत निधि को गौरव के साथ आत्मसात् नही कर पा रहा

है। जब पश्चिमी राष्ट्र का मानस उसे अपना लेता है या उसकी महत्ता-उपयोगिता प्रकट कर देता है तब कहीं जाकर हम उसे अपनाने का प्रयत्न करते हैं और अपने ही घर मे 'प्रवासी' से लगते है। 'ध्यान' भी इस सदर्भ से कटा हुआ नही है। पश्चिम में जब 'हरे राम हरे कृष्ण' की धुन लगी तब कही जाकर हमें अपने 'ध्यान-योग' की गरिमा और आवश्यकता का बोध हुआ।

ध्यान के प्रति पश्चिमी आकर्षण

यह बोध स्वागत योग्य है क्योंकि इसके द्वारा हमे विलुप्त होती हुई ध्यान-साधना की अन्त सलिला को फिर से पुनर्जीवित करने का अवसर मिला है। पर जिस माध्यम से यह 'बोध' हुआ है, उसके कई खतरे भी हैं। पहला खतरा तो यह कि हम ध्यान की मूल चेतना को भूलकर कही इसे फैशन के रूप मे ही न ग्रहण करलें। दूसरा यह कि हम इसे केवल रूढ मनोविज्ञान के धरातल पर ही स्वीकार करके न रह जाय और इस वस्तु या विचार को मन के समायोजन (Adjustment) तक ही सीमित करदें और तीसरा यह कि हम वैज्ञानिक चिन्ता-धारा को छोडकर कहीं मध्य-युगीन संस्कारो मे फिर न बन्ध जाय।

ऊपर जिन खतरो की चर्चा की गई है वे निराधार नही हैं। उनके पीछे आधार है। 'ध्यान' के सम्बन्ध मे जो पश्चिम की हवा चली है वह भोग के अतिरेक की प्रतिक्रिया की परिणति है, आत्मा के स्वभाव मे रमण करने की सहज वृत्ति नही। भौतिक ऐश्वर्य मे डूबे पश्चिम के मानव के लिए वह भौतिक यन्त्रणाओ से मुक्ति का साधन है, इन्द्रियभोग के अतिरेक की थकान की विश्रान्ति है, मानसिक तनाव और दैनन्दिन जीवन की आपाधापी से बचने का रास्ता है। ध्यान के प्रति उसकी ललक भौतिक पदार्थों की चरम सतृप्ति (सत्रास) का परिणाम है, उसका लक्ष्य परमानद या निर्वाण प्राप्ति नही है। उसे वह शारीरिक और मानसिक स्तर तक ही समझ पा रहा है। इसके आगे आत्मिक स्तर तक अभी उसकी पहुँच नही है। पर हमारे यहाँ ध्यान योग की साधना भोग की प्रतिक्रिया का फल नही है। वह चरस, गाजा का विकल्प नही है और न है कोरा मन का विलासिक उपकरण। इसके द्वारा आत्मा के स्वभाव को पहचान कर उसमे रमण करने की चाह जागृत की जाती है, चित्तवृत्ति का निरोध

किया जाता है—इस प्रकार कि वह जड नही बने वरन् सूक्ष्म होती हुई शून्य हो जाय । रिक्तता न आये वरन् अनन्त शक्ति और आनन्द से भर जाय ।

ध्यान . शक्ति और शान्ति का स्रोत

आज की प्रमुख समस्या शान्ति की खोज की है । शान्ति आत्मा का स्वभाव है । वह स्थिरता और एकाग्रता का परिणाम है । आज का मानस अस्थिर और चचल है । शान्ति की प्राप्ति के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है पर मन आज चलायमान है । 'योगशास्त्र' मे मन की चार दशाओ का वर्णन किया गया है—

१. **विक्षिप्त दशा**—आज विश्व का अधिकाश मन इसी दशा को प्राप्त है । मस्तिष्क के अत्यधिक विकास ने मन को विक्षिप्त बना दिया है । वह लक्ष्यहीन, दिशाहीन होकर इधर-उधर भटक रहा है । वह अत्यन्त चचल, अस्थिर और निर्बल बन गया है । उसे इन्द्रिय-भोगो ने सतृप्ति के बदले दिया है—सत्रास, तनाव और तृष्णा का अलघ्य क्षेत्र । कुठा और अत्यधिक निराशा तथा थकान के कारण वह विक्षिप्त हो निरुद्देश्य भटकता है ।

२. **यातायात दशा**—विज्ञान ने यातायात और सचार के साधन इतने तीव्र और द्रुतगामी बना दिये हैं कि इस दशा वाला मन गति तो कर लेता है पर दिशा नही जानता । वह कभी भीतर जाता है, कभी बाहर आता है । किसी एक विषय पर टिककर रह नही सकता । वह अवसरवादी और दलबदलू बन गया है । वह किसी के प्रति वफादार नही, प्रतिबद्ध नही, आत्मीय नही । वह अपने ही लोगो के बीच पराया है । आज के युग की यह सबसे बडी दर्दनाक मानव त्रासदी है । इस अस्थिरता और चचलता के कारण वह सबको नकारता चलता है, किसी का अपना बनकर रह नही पाता ।

३. **श्लिष्ट दशा**—इस दशा का मन कही स्थिर होने का प्रयत्न तो करता है, पर उसकी स्थिरता प्राय. क्षणिक ही होती है । दूसरे वह अपवित्र, अशुभ व बाह्य विषयो मे ही स्थिर रहने का प्रयत्न करता है । शास्त्रीय दृष्टि से आर्त्त एव रौद्र ध्यान की स्थिति वाला है यह मन । जहाँ शुभ-भावना और पवित्रता नही, वहाँ शान्ति कैसे टिक सकती है ? पश्चिम का वैभवसम्पन्न मानस इसी दशा मे है ।

४. सुलीन दशा—इस दशा का मन शुभ एव पवित्र भावनाओ मे स्थित रहकर एकाग्रता व दृढता प्राप्त करता है।

ध्यान-साधना का मुख्य लक्ष्य मन को सुलीन दशा मे अवस्थित करना है।

आज का मानस चचल, अस्थिर, अनुशासनहीन और उच्छृखल है। ध्यान उसमे स्थिरता और सन्तुलन की स्थिति पैदा करता है। आज का व्यक्ति गैरजिम्मेदार वनता जा रहा है। उसमे कार्य के प्रति लगन, तल्लीनता और उत्साह नही है। वह अपने ही कर्त्तव्यो के प्रति उदासीन वन गया है। इसका मुख्य कारण है चित्त की एकाग्रता का अभाव। इस एकाग्रता को लाने के लिए ध्यानाभ्यास आवश्यक है। पर यह ध्यानाभ्यास आसन और प्राणायाम तक ही सीमित न रह जाय। इसे यम-नियमादि से तेजस्वी वनाना होगा। चित्तवृत्ति को पवित्र और सयमित करना होगा। मन की गति को मोडना होगा। उसे स्वस्थता प्रदान करना होगा। एकाग्रता को निर्मलता की शक्ति से सयुक्त करना होगा।

ध्यान की भूमिका तैयार करने के लिए उचित आहार-विहार, सत्सग और स्थान की अनुकूलता पर भी दृष्टि केन्द्रित करनी होगी अन्यथा ध्यान की ओट मे हम छले जायेंगे और हमारा प्रयत्न आत्म-प्रवचना वन कर रह जायेगा।

आज की प्रमुख समस्या तीव्र और गतिशील जीवन मे भी स्थिर और दृढ बने रहने की है। ध्यान साधना इसके लिए भूमि तैयार करती है। वह मानसिक सक्रियता को जड नही वनाती, चेतना के विभिन्न स्तरो पर उसे विकसित करती चलती है। आन्तरिक ऊर्जा को जागरूक वनाती चलती है। उससे आत्मशक्ति की वैटरी चार्ज होती रहती है, वह निस्तेज नही होती। यह ध्याता पर निर्भर है कि वह उस शक्ति का उपयोग किस दिशा मे करता है। यहाँ के मनीषी उसका उपयोग आत्म-स्वरूप को पहचानने मे करते रहे। जव आत्म-शक्ति विकसित और जागृत हो जाती है, हम उसी तुलना मे विघ्नो पर विजय प्राप्त करते चलते है।

प्रारम्भ मे हम भौतिक और वाहरी विघ्नो पर विजय प्राप्त करते हैं पर जव शक्ति वहुत अधिक वढ जाती है तव हम आन्तरिक शत्रुओ, वासनाओ पर भी विजय प्राप्त कर लेते है। आज आन्तरिक खतरे अधिक

सूक्ष्म और वलशाली वन गये हैं, उन्हे वशवर्ती वनाने के लिए ध्यानाभ्यास आवश्यक है।

ध्यान-साधना आध्यात्मिक ऊर्जा का अखण्ड स्रोत है। वह शक्ति के सचय, संवर्धन एव रक्षण मे सहायक है। भौतिक विज्ञान मे ऊर्जा का वड़ा महत्त्व है। वजन को नीचे से ऊपर उठाने मे जिस शक्ति का उपयोग किया जाता है, वह ऊर्जा है। किसी निकाय मे परिवर्तन लाकर ऊर्जा उत्पन्न की जा सकती है। परिवर्तन लाने के लिए भी ऊर्जा का उपयोग जरूरी है। उदाहरण के लिए पानी को ले। पानी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से मिलकर वना है। जव इन दोनो को अलग-अलग कर दिया जाता है तो उनसे ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है।

ऊर्जा का यह सिद्धान्त आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी लागू होता है। यहाँ ऊर्जा एक प्रकार की जीवनी-शक्ति है। जव तक व्यक्ति शरीर और आत्मा के निकाय को अलग-अलग करके देखने की दृष्टि और अनुभूति विकसित नही कर पाता तव तक उसमे वास्तविक ऊर्जा—जीवनी-शक्ति स्फुरित नही हो पाती, ऐसी ऊर्जा जो उसकी चेतना को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी वना दे। ऊर्जा का मूल केन्द्र नाभि है। नाभि स्थित चेतना अधोमुखी भी हो सकती है और ऊर्ध्वमुखी भी। ऊर्जा का कार्य नाभि स्थित चेतना को ऊपर उठाना है। इस कार्य मे जो ऊर्जा उपयोग की जाती है उसकी प्राप्ति ग्रथि-भेदन और ध्यान-सावना से ही सम्भव है।

भौतिक जगत् मे आज ऊर्जा का सकट वना हुआ है। ऊर्जा के जो साधन—कोयला, तेल, यूरेनियम आदि हैं, वे तेजी मे कम होते जा रहे हैं। लाखो वर्षो की रासायनिक प्रक्रिया के फलस्वरूप जो यह निधि पृथ्वी के गर्भ मे सचित हुई है, विगत वर्षों मे वह तेजी से उपयोग मे आती जा रही है। वैज्ञानिको का अनुमान है कि यदि इसी गति से इस ऊर्जा का उपयोग होता रहा तो आने वाले २०० वर्षों मे यह ऊर्जा-निधि समाप्त हो जावेगी और तव मानव-सभ्यता का भविष्य क्या होगा, यह चिन्तनीय है। इसलिए वैज्ञानिक ऊर्जा के नये-नये स्रोत ढूंढने मे चेष्टारत हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी ऊर्जा प्राप्त करने के नये-नये प्रयोग आवश्यक है। हमारे विभिन्न धार्मिक अनुष्ठान, तप, त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान, स्वाध्याय, ध्यान आदि के विधान इसी निमित्त हैं। आज कठिनाई यह है

कि व्यक्ति इनका उपयोग ऊर्जा प्राप्त करने के लिए न कर केवल रूढि-पालन या प्रदर्शन-प्रशसा प्राप्त करने के लिए ही अधिक करने लगा है। आवश्यकता इस बात की है कि प्राप्त ऊर्जा का उपयोग इन्द्रियो के विषय-सेवन के क्षेत्रो को बढाने मे न कर आत्म-चेतना को जागृत व उन्नत करने मे किया जाय।

ध्यान-साधना आध्यात्मिक ऊर्जा का प्राथमिक स्रोत तो है ही, सामाजिक शालीनता और विश्व-बन्धुत्व की भावना-वृद्धि मे भी उससे सहायता मिल सकती है। यह जीवन से पलायन नही, वरन् जीवन को ईमानदार, सदाचारनिष्ठ, कलात्मक और अनुशासनबद्ध बनाये रखने का महत्त्वपूर्ण साधन है। यह एक ऐसी सगम-स्थली है जहाँ विभिन्न धर्मो, जातियो और सस्कृतियो के लोग एक साथ मिल-बैठकर परम सत्य से साक्षात्कार कर सकते है, अपने आपको पहचान सकते हैं।

१२

धर्म : सीमा और शक्ति

सामान्यत: यह माना जाता है कि धर्म बुजुर्गों के लिए है। युवा वर्ग का उससे क्या सम्बन्ध ? पर यह धारणा भ्रामक है। धर्म ससार से पलायन, कर्त्तव्य से उदासीनता या सेवा निवृत्ति का परिणाम नही है। वस्तुत. धर्म कर्त्तव्यपालन, सेवापरायणता और कर्म क्षेत्र मे पूरे उत्साह व पराक्रम के साथ जुटे रहने मे है। इस दृष्टि से ही धर्म को पुरुषार्थ माना गया है। 'दशवैकालिक' सूत्र मे कहा गया है—

जरा जाव न पीडेई, वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायन्ति, ताव धम्म समायरे ।।८।।३६।।

अर्थात् जब तक बुढापा शरीर को कमजोर नही बनाता, जब तक व्याधि शरीर को घेर नही लेती, और जब तक इन्द्रियाँ शक्तिहीन होकर शिथिल नही हो जाती इससे पहले धर्म का आचरण कर लेना चाहिये, क्योकि उपर्युक्त अगो मे से किसी भी अग की शक्ति क्षीण हो जाने पर फिर यथावत् धर्म का आचरण नही हो सकता है। इस कथन से स्पष्ट है कि धर्म के लिए स्वस्थ और सुदृढ तन-मन की आवश्यकता है और यह युवावस्था मे ही विशेष रूप से सम्भव है। दूसरे शब्दो मे युवावस्था ही धर्माचरण के लिए विशेष उपयुक्त और अनुकूल है।

जो लोग युवावस्था को धर्माचरण के लिए उपयुक्त नही मानते, वे लोग युवावस्था की उपादेयता और सार्थकता को शायद नही समझते। युवावस्था शक्ति और सामर्थ्य, पुरुषार्थ और पराक्रम तथा उमग और उत्साह की अवस्था है। यदि इसका उपयोग सत्कार्यों और सही दिशा मे

होता है तो मानव जीवन सार्थक और मगलमय वन जाता है। इसके विपरीत यदि युवावस्था असत् प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हो जाती है तो सम्पूर्ण जीवन ही नष्ट हो जाता है। महाकवि विहारी ने युवावस्था की उपमा उफनती नदी से देते हुए कहा है कि हजारो व्यक्ति इसमे डूब जाते हैं, इसके कीचड मे फँस जाते हैं। यह वयरूपी नदी उफान पर आती है तव कितने अवगुण नही करती ?

इक भीजै चहले परैं, वडे, वहै हजार ।
किते न औगुन जग करैं, वै-नै चढती वार ।।

युवावस्था को दुर्गति से वचाने की क्षमता सम्यक् धर्माचरण मे है।

किन्तु दु ख इस वात का है कि आज का युवा वर्ग धर्म से विमुख होता जा रहा है। इसके मुख्यत निम्नलिखित ऐतिहासिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण हैं—

१ सामान्यत यह माना जाता है कि धर्म का सम्वन्ध अतीत या भविष्य से है। वर्तमान हमारे भूतकालीन कर्मों का परिणाम है, और भविष्य भी इसी पर आधारित है। इस मान्यता के फलस्वरूप धर्म वर्तमान जीवन से कट जाता है और वह अतीतजीवी या स्वप्नदर्शी विचार वन कर रह जाता है।

२ धार्मिक उपासना के केन्द्र मे मनुष्य के स्थान पर देवता को प्रतिष्ठित कर देने से युवावर्ग की धर्म के प्रति आस्था कम हो गई है। वह मनुष्यत्व को ही विकास की सम्पूर्ण सम्भावनाओ अर्थात् ईश्वरत्व के रूप मे देखना चाहता है। धर्म का पारम्परिक रूप इसमे वाधक वनता है।

३. धर्म ज्ञान का विषय होने के साथ-साथ आचरण का विषय भी है। पर युवा वर्ग जव अपने इर्द-गिर्द तथाकथित धार्मिको को देखता है तो उनके जीवन मे कथनी और करनी का आत्यतिक अन्तर पाता है। व्यक्तित्व की यह द्वैत स्थिति युवावर्ग मे धर्म के प्रति वितृष्णा पैदा करती और वह धर्म को ढोग, पाखण्ड व थोथा प्रदर्शन समझकर उससे दूर भागता है।

४ धर्म को प्रधानतः आत्मा-परमात्मा के सम्बन्धो तक ही सीमित रखा गया है और जितने भी धार्मिक महापुरुष हुए हैं उन्हे आध्यात्मिक धरातल पर ही प्रतिष्ठित किया गया है। फलस्वरूप धर्म का सामाजिक,

आर्थिक और राजनैतिक पक्ष उभरकर सामने नही आ पाया है। दूसरे शब्दो मे धर्म आत्म-परिष्कार तक ही सीमित रहा है और समाज-सुधार तथा देशोद्धार मे उसकी प्रभावकारी भूमिका को रेखाकित नही किया गया है।

५. धर्म को श्रद्धा और विश्वास के रूप मे ही प्रतिपादित किया गया है। तर्क, प्रयोग और परीक्षण की स्थितियो से उसका सम्बन्ध जोड कर उसकी बौद्धिक, तार्किक और वैज्ञानिक पद्धति से विवेचना नही की गई है।

प्रमुखत उपर्युक्त पाँच कारणो से युवा वर्ग धर्म के प्रति असहिष्णु और अनास्थावान बना दीखता है। पर यदि धर्म को सही परिप्रेक्ष्य मे उसके सम्मुख प्रस्तुत किया जाय तो वह धर्म की तेजस्विता और प्राणशक्ति का सर्वाधिक लाभ उठा सकता है। इस स्थिति को लाने के लिये हमे युवा वर्ग के समक्ष धर्म को निम्नलिखित बिन्दुओ के रूप मे प्रस्तुत करना होगा—

१ धर्म परम्परा से प्राप्त श्रद्धा या विश्वास मात्र नही है। धर्म अपने मे शाश्वत सिद्धान्तो को समेटे हुए भी समसामयिक सन्दर्भों से जीवनी शक्ति ग्रहण करता है और इस अर्थ मे वह अन्धविश्वासो तथा रूढ मान्यताओ के प्रति विद्रोह प्रकट करता है। इस दृष्टि से धर्म जीवन मूल्य के रूप मे उभरता है। वह भोग के स्थान पर त्याग को, सचय के स्थान पर सयम को और सघर्ष के स्थान पर सहयोग व सेवाभाव को महत्त्व देता है।

२ धर्म किसी देवता को प्रसन्न करने के लिए नही वरन् अपने मे छिपे देवत्व को (आत्मगुणो को) प्रकट करने की साधनात्मक प्रक्रिया है। अहिसा, सयम और तप की आराधना से, आत्मशक्ति को आच्छादित या बाधित करने वाले तत्त्वो को हटाया या नष्ट किया जा सकता है।

३ धर्म के दो स्तर है—वैयक्तिक और सामाजिक। वैयक्तिक स्तर पर धर्म व्यक्ति के सद्गुणो को जागृत और विकसित करने के अवसर प्रदान करता है। क्रोध को क्षमा से, अहकार को विनय से, माया-कपट को सरलता से और लोभ को सन्तोष से जीतने की भूमिका प्रस्तुत करता है। सामाजिक स्तर पर ग्राम धर्म, नगर धर्म और राष्ट्र धर्म की परि-पालना करते हुए लोककल्याण के लिए जीवन समर्पित करने की प्रेरणा देता है।

४ धर्म परस्पर मैत्री भाव स्थापित करता है। वह मनुष्य और मनुष्य की समानता ही नही देखता वरन् प्राणीमात्र को अपने समान देखता है और उनके कल्याण की कामना करता है। आत्मीय भावो का यह विस्तार व्यक्ति को सब के प्रति सहिष्णु और सहानुभूति प्रवण बनाता है। उसकी दृष्टि मे मत, सम्प्रदाय, वर्ण जाति, लिंग आदि किसी प्रकार का भेदभाव नही रहता। सब धर्मों, जीवो और सब जातियो के प्रति उसकी समदृष्टि रहती है।

५ धर्म आत्मा का स्वभाव है। वह व्यवहार द्वारा निर्धारित होता है। जब कभी व्यवहार मे विकृति आती है तो वह धर्म नही, अधर्म है। उस विकृति को दूर करने के प्रयत्नो मे ही धर्म की रक्षा है। धर्म के नाम पर जो हिंसा, शोषण, प्रदर्शन और अत्याचार हुए हैं या हो रहे हैं वे सब धर्म के नाम पर कलक हैं। इनके खिलाफ सगठित रूप से खडा होना, सच्चे धार्मिक का कर्त्तव्य है।

६ धर्म का विज्ञान से विरोध नही है। विज्ञान की पहुँच अभी तक प्रयोग, निरीक्षण और परीक्षण तक ही सीमित है। इसलिये उसका सत्य अन्तिम सत्य नही है। ज्यो-ज्यो प्रयोग का क्षेत्र विस्तृत होगा त्यो-त्यो विज्ञान का सत्य उत्तरोत्तर निखरेगा। धर्म की पहुँच अनुभूति तक है। इसका आस्वादन आचरण और साधना से ही किया जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान अनुभूनि के स्तर तक पहुँचे और धर्म प्रयोग और परीक्षण की प्रक्रिया से गुजरे। अब तक विज्ञान बाह्य दृष्टि से विश्व को सगठित करने मे ही अपनी शक्ति का उपयोग करता रहा है और धर्म अन्तर की भीतरी शक्तियो को ही जागृत करने मे लगा रहा है। अब आवश्यकता इस बात की है कि धर्म और विज्ञान दोनो एक दूसरे के सहयोगी और पूरक बने। युवावर्ग इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

७ युवा वर्ग को यह ध्यान मे लेना चाहिये कि उसे अपने पूर्वजो से जो कुछ विरासत मे मिला है, वह केवल शरीर के रूप, गुण, आकार, सत्ता, बल और भौतिक सम्पत्ति तक ही सीमित नही है। इससे भी अधिक मूल्यवान और मागलिक विरासत मिली है—धर्म की, जीवन मूल्यो की और नैतिक निष्ठाओ की। शरीर और सम्पत्ति की विरासत तो नष्ट होने वाली है और केवल इसी जीवन तक सीमित है पर सच्चे धर्म के रूप

मे उसे जो विरासत मिली है वह जन्मजन्मान्तर तक प्रभावित-प्रकाशित करने वाली है। इस विरासत को समझने की बडी आवश्यकता है। पर स्थूल इन्द्रियो और बाहरी ज्ञान से इसे समझा नही जा सकता। इसके लिए प्रज्ञा व सवेदना के सूक्ष्म स्तरो को जागृत करने की आवश्यकता है। जो एक बार प्रज्ञा जागृत हो गई तो वह देहरी के दीपक की भांति अन्तर-बाहर को एक साथ प्रकाशित कर देगी। युवा वर्ग के लिए इससे बढकर और कोई धर्म नही हो सकता।

वर्तमान परिस्थितियां और आध्यात्मिकता का विकास :

मैं इस बात पर विशेष बल देना चाहता हूं कि आज की परिस्थितियां धार्मिकता-आध्यात्मिकता की प्रतिगामी होकर भी उसके विकास मे अधिक सहयोगी बन सकती हैं। आज का युग विज्ञान का युग है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण, प्रयोग, परीक्षण, तार्किकता और निरीक्षण पर अधिक बल देता है। अनुभव और बुद्धि की कसौटी पर जो तत्त्व खरा उतर आता है उसे क्या भौतिक क्या आत्मिक, क्या पूर्व, क्या पश्चिम, सभी अपना लेते हैं और वह किसी क्षेत्र विशेष या व्यक्ति विशेष की छाप बनकर नही रह जाता। यदि धार्मिकता-आध्यामिकता किसी प्रकार विज्ञान से जुड जाय तो वह हमारे लिए मात्र पारलौकिक उपलब्धि न रहकर इस जीवन की आवश्यकता बन जायेगी।

इस दिशा मे कुछ प्रयास वर्तमान परिस्थितियों में होते दिखाई देने लगे हैं। धर्म अब तक परम्परावादियो और धर्माचार्यों या मठाधीशो की रूढ वस्तु बनकर उसी में लम्बे समय तक जकडा रहा। मध्य युग मे धर्म के नाम पर अमानुषिक अत्याचार भी हुए। वह किसी विशेष जाति, कुल या सस्कार से ही बधा रहा। कबीर, नानक आदि सन्तों ने इसे सकुचित परम्परा कहकर इसके विरुद्ध आवाज बुलन्द की, उसका कुछ तात्कालिक प्रभाव भी पडा, पर कुछ मिलाकर चिन्तन की दिशा में कोई आमूलचूल परिवर्तन नही हुआ। पर आधुनिक युग के वैज्ञानिक चिन्तन और परीक्षण ने धर्म के नाम पर होने वाले बाह्य क्रियाकाण्डों, अत्याचारो और उन्मादकारी प्रवृत्तियो के विरुद्ध जनमानस को सघर्षशील बना दिया है। जैन दर्शन के इस तथ्य को आज के वैज्ञानिक मानव ने (चाहे हम उसे पारिभाषिक अर्थ मे आध्यात्मिक मानव न मानें) मान्यता दे दी है कि मनुष्य स्वाधीन है, किसी देवी-देवता के अधीन नही। वह अपने प्रति

उत्तरदायी है। सृष्टि का कर्ता ईश्वर नही। वह अनादि अनन्त है। परा मनोविज्ञान पूर्व-जन्म के सस्कारो और उसके सन्दर्भ से कर्म-सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक आधार (प्रयोग-परीक्षण विधि से) देने मे सफल होता दिखाई दे रहा है।

आध्यात्मिकता की पहली शर्त है—व्यक्ति के स्वतत्रचेता अस्तित्व की मान्यता। आज की विचारधारा इस तथ्य पर सर्वाधिक बल देकर व्यक्ति मे वाछित मूल्यो के लिए आवश्यक परिस्थितियो के निर्माण की ओर अग्रसर है। आज सरकारी और गैर सरकारी स्तर पर मानव-कल्याण के लिए नानाविध सस्थाएँ और एजेन्सिया कार्यरत है। भौतिक समृद्धि और उत्पादन की शक्ति बढाने के पीछे भी जनसाधारण के अभावो को दूर कर उसे खुशहाल बनाने की भावना निहित है। चिकित्सा के क्षेत्र मे जो क्रान्तिकारी परिवर्तन आया, उसने रोग मुक्ति मे अभूतपूर्व सहायता दी। सामाजिक जागरण ने अछूतो, पद दलितो, पिछडे हुए वर्गो और नारी जाति को ऊपर उठने के अवसर दिये। उनमे साहस और स्वाधीन चेतना के भाव भरे। उन्हे अपने मे निहित शक्ति से अवगत कराया। आर्थिक क्रान्ति ने सब की मूल आवश्यकताएँ—खाना, कपडा और आवास पूरी करने का लक्ष्य रक्खा और इस ओर तेजी से बढने के लिए औद्योगीकरण की प्रक्रिया तीव्र करने का समारम्भ किया। शहरी सम्पत्ति की सीमा बन्दी, भूमि का सीलिंग और आयकर पद्धति ये कुछ ऐसे कदम है जो आर्थिक विषमता को कम करने मे सहायक सिद्ध हो सकते है। धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त मूलत इस बात पर बल देता है कि धर्माचरण मे सभी स्वतत्र है, सभी धर्म आदरणीय है, सग्राह्य है। अपनी-अपनी भावना के अनुकूल प्रत्येक व्यक्ति को किसी मत या धर्म के अनुपालन की स्वतत्रता है। ये परिस्थितिया इतिहास मे इस रूप मे इतनी सार्वजनीन बनकर पहले कभी नही देखी गई।

मेरी दृष्टि मे ये परिस्थितियाँ निश्चय ही धर्म या आध्यात्मिकता के सामाजिक स्वरूप को रूपायित करने मे सहायक हो रही है। अब धर्म आध्यात्मिकता को हम वैयक्तिक साधना तक ही सीमित बनाकर नही रख सकते। एक समय था जब आध्यात्मिक धर्म साधना का निवृत्तिपरक रूप ही अधिक व्यावहारिक और आकर्षक लगता था, क्योकि उस समय तक सभ्यता का विकास छोटे पैमाने पर हुआ था। यातायात और सचार के साधनो का वर्तमान रूप कल्पना की वस्तु समझा जाता था। पर अब

जीवन-पद्धति और रहन-सहन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए है। अत: सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य मे हमे धर्म के विकास की गति और उसका रूप निर्धारित करना होगा। अब धर्म का सामाजिक रूप अधिक निखरेगा। हमे वैयक्तिक आध्यात्म साधना के बल पर उसे तेजस्वी बनाना होगा।

मेरी दृष्टि से आज की समस्या यह नही है कि हम धर्म या आध्यात्मिकता के बल पर किन्ही अभावों या अज्ञात रहस्यो मे भटके, वरन् हमारा चिन्तन और लक्ष्य यह होना चाहिये कि हम परिवर्तनशील समाज की गति को समझते हुए उसके घटको को किस प्रकार आध्यात्मिक ऊर्जा से सयुक्त करे।

मुझे लगता है कि निकट भविष्य मे आने वाला युग धर्म या आध्यात्मिकता का विरोधी नही होगा वरन् धर्म विज्ञान द्वारा पुष्ट होगा। यदि व्यक्ति केवल रोटी के बल पर जीवित नही रह सकता, यदि सब प्रकार की भौतिक सुविधाओ का लाभ लेते हुए वह रिक्तता की अनुभूति करता है, यदि बाह्य इन्द्रियो के विषयो का सेवन करते हुए भी सन्त्रस्त है, तो समझ लीजिये कि आध्यात्मिकता के प्रति उसकी भूख है।

आज की भौतिक प्रगति बाह्य इन्द्रियो के विषय-सेवन के बडे मोहक साधन प्रस्तुत कर दिए है। वैज्ञानिक मानव उन्हे भोग रहा है फिर भी वह अतृप्त है। यह अतृप्ति की स्थिति जितनी भयावह होगी, उसी अनुपात से वह आध्यात्मिक परीक्षणो की ओर अग्रसर होगा। विदेशो मे ध्यान के प्रति आकर्षण इसका प्रमाण माना जा सकता है। सुदूर अतीत के अर्जुनमाली आदि के उदाहरण छोड भी दें तो निकट वर्तमान मे घटित डाकुओ आदि के सामूहिक आत्म समर्पण के प्रसग इस बात के सकेत हैं कि क्रूर से क्रूर व्यक्ति मे भी कोई ऐसी सवेदनशील चेतना होती है जो उसके भावो को बदलकर शुभ के प्रति, सद् के प्रति प्रेरित करती है। इसे आध्यात्मिक भाव-स्फुरणा की सज्ञा दी जा सकती है।

वर्तमान परिस्थितियो ने आध्यात्मिकता के विकास के लिए अच्छा वातावरण तैयार कर दिया है, विशेषकर पश्चिमी देशो मे। अध्यात्म प्रेमी चिन्तको और धर्म साधको को उसका लाभ उठाना चाहिये। आज आवश्यकता इस बात की है कि जैन तत्त्व विचार का (जिसे वैज्ञानिक अध्यात्म-चिन्तन की सज्ञा दी जा सकती है) विदेशो मे उनकी अपनी

भाषा मे फैलाव किया जाय। कर्म-सिद्धान्त, व्रत-साधना, ध्यान-योग, षट् द्रव्य आदि ऐसे बिन्दु हैं, जिनका आज की वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक चिन्तन धारा से पर्याप्त मेल है। यदि वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक अपनी खोज के लिए इनका आधार प्राप्त कर सकें तो मानवता को बडी राहत मिलने की आशा की जा सकती है। दर्शन को प्रायोगिक धरातल पर उतारने तथा केवली प्ररूपित अनुभवगम्य चिन्तन को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के तरीको द्वारा अधिकाधिक प्रत्यक्षीभूत करने की दिशा मे प्रयत्न किये जाने चाहिये।

वर्तमान परिस्थितियाँ इतनी जटिल, शीघ्र परिवर्तनगामी और भयावह बन गयी है कि सत्रस्त व्यक्ति अपने आवेगो को रोक नही पाता और विवेकहीन होकर आत्मघात तक कर बैठता है। आत्महत्याओ के ये आकडे दिल दहलाने वाले है। ऐसी परिस्थितियो से बचाव तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति का दृष्टिकोण तनाव रहित व आध्यात्मिक बने। इसके लिये आवश्यक है कि वह जड तत्त्व से परे चेतन तत्त्व की सत्ता मे विश्वास कर यह चिन्तन करे कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, किससे बना हूँ, मुझे कहाँ जाना है? यह चिन्तन-क्रम उसके मानसिक तनाव को कम करने के साथ-साथ उसमे आत्मविश्वास, स्थिरता, धैर्य, एकाग्रता जैसे सद्भावो का विकास करेगा।

लेखक की अन्य प्रमुख कृतियाँ

(क) मौलिक कृतियाँ

शोध-समीक्षा

१	राजस्थानी वेलि साहित्य	राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर
२	राजस्थानी साहित्य कुछ प्रवृत्तियाँ	रोशनलाल जैन एण्ड सन्स, जयपुर
३	साहित्य के त्रिकोण	अनुपम प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर
४	हिन्दी साहित्य की प्रमुख कृतियाँ और कृतिकार :	अनुपम प्रकाशन, जयपुर
५	राजस्थानी वीर काव्य और सूर्यमल्ल मिश्रण	इण्डिया बुक हाऊस, जयपुर
६	जैन दर्शन तथा साहित्य का भारतीय सस्कृति एव विचारधारा पर प्रभाव :	श्री जिनदत्त सूरि मडल, अजमेर

काव्य – संग्रह

७	आदमी : मोहर और कुर्सी	अनुपम प्रकाशन, जयपुर
८	माटी–कु कुम	मुक्तक प्रकाशन, श्रीकृष्णपुरा उदयपुर
९	जामरा जाया	सिद्धश्री प्रकाशन, तिलक नगर, जयपुर

कहानी – संग्रह

१०.	कुछ मणियाँ कुछ पत्थर	पूज्य श्री काशीराम स्मृति ग्रथमाला. अम्बाला

एकांकी – संग्रह

११	विष से अमृत की ओर	पूज्य श्री काशीराम स्मृति ग्रथमाला, अम्बाला

(ख) सम्पादित कृतियाँ

१	राजस्थानी गद्य विकास और प्रकाश	श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा
२	जैन सस्कृति और राजस्थान	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मडल, जयपुर
३.	राजस्थान का जैन साहित्य	प्राकृत भारती, जयपुर
४	भगवान् महावीर आधुनिक सदर्भ मे	अ. भा साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर
५.	ध्यान योग रूप और दर्शन	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मडल, जयपुर
६	सामायिक दर्शन	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मडल, जयपुर
७.	तप दर्शन	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मडल, जयपुर
८	आचार्य विनयचन्द ज्ञान भडार ग्र थ सूची	विनयचन्द ज्ञान भडार, जयपुर

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

के

अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१ श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र (सटीक)
२ श्री वृहतकल्प सूत्र (सटीक)
3 उत्तराध्ययन सूत्र
४ दशवैकालिक सूत्र
५ गजेन्द्र व्याख्यानमाला भाग १ से ७
६ जैन सस्कृति और राजस्थान
७ प्रार्थना प्रवचन
८ Concept of Prayer
९ ध्यानयोग रूप और दर्शन
१० आध्यात्मिक साधना
११ आध्यात्मिक आलोक
१२ निर्ग्रन्थ भजनावली
13 स्वाध्याय स्तवनमाला
१४ गजेन्द्र सूक्ति-सुधा
१५ गणधरवाद
१६ दीक्षाकुमारी का प्रवास
१७ श्री रत्नचन्द्र पद मुक्तावली
१८ सुजान पद सुमन वाटिका
१९ पर्व सन्देश
20 जैन तत्त्व प्रश्नोत्तरी
२१ 'जिनवाणी' (मासिक पत्रिका)